प्रकाशक	पूर्वोदय प्रकाशन संचालक पूर्वोदय प्राइवेट लि० ८ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-६
मुद्रक	नवचेतन प्रेस प्रा० लि०, (लीज़िज़ ऑफ अर्जुन प्रेस) नया बाजार, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण	१९६६

| मूल्य | चार रुपये |

जैनेन्द्र की कहानियां

(दसवां भाग)

प्रकाशकीय

प्रस्तुत सग्रह म सालह कहानिया ह । राचकता, मामिकता व तीक्ष्ण आत्मपरक व वस्तुपरक गहनता की दृष्टि से यह कहानी-सग्रह अद्भुत है । सग्रह मे वैविध्य व कलात्मक सौष्ठव के अनायास दर्शन होते हैं । इससे लेखक का यह प्रतिनिधि सकलन है ।

कुछ अत्यन्त विवादास्पद कहानिया इसमे सम्मिलित हैं जिन्होने बौद्धिक स्तर पर गम्भीर उथल-पुथल उपस्थित की हैं ।

पाठको एव साहित्य-शोधको के लिए यह सकलन समान रूप से सग्रहणीय है ।



महामहिम

उषा परिचारिका नही है। कुछ सैक्रेटरी ही समझिए। वही महा-महिम के सवेरे के नाश्ते-पानी की व्यवस्था करती है।

कमरे मे आई और देखकर वह दग रह गई कि महामहिम बैठे है। दाहिनी बाह कोहनी से मेज पर टिकी है और चेहरा हाथ मे थमा है।

वह आई थी कि मेज साफ करेगी। चीजें सही जगह चुनकर रखेगी। और तैयारी हो चुकने पर महामहिम से कहेगी। पर अब वह ठिठकी रह गई। दरवाजे पर ही सोचती रह गई कि वह आगे बढे या वापिस जाय।

ऐसा कभी नही हुआ है। महामहिम हमेशा उद्यत प्रसन्न दीखे है। यह तो कल्पना से बाहर है कि वह अपने से आकर इस कमरे मे बैठें और वह भी इस तरह कि बेभान हो और सोच मे हो।

उसे खडे-खडे अनुचित मालूम होने लगा और वह दबे कदम वापस जाने को थी कि महामहिम ने कहा, "अरे, उषा!"

उषा स्तब्ध रह गई। उसे पहचाना जाएगा, नाम लेकर सम्बोधन से पुकारा जाएगा, यह उसके लिए बहुत अधिक था। मानो वह जमकर पत्थर बन आई।

"मेज साफ करोगी?"

बडी कठिनाई से उसके मुह से निकला, "जी!"

"तो, करो साफ।"

कहकर महामहिम कुर्सी छोडकर खड़े हुए और पीछे सरक कर दीवार से सट आए। उषा बुत बनी अपनी जगह खडी रह गई।

"आओ, साफ करो मेज ।"

उषा डरी-सी डग-डग भरती आई और मेज को साफ करने लगी ।

महामहिम खडे देखते रहे । उषा को मालूम हुआ कि उसकी पीठ पर महामहिम की निगाह है । वह जैसे अन्दर सिमटती गई । यह एक-दम अप्रत्याशित था, असम्भव था ।

"तुम्हारी मा की तबियत अब कैसी है ?"

"जी ?"

उसने मेज से अपना मुह नही उठाया था । कैसे उठा सकती थी ? उसके मा है और वह बीमार थी । यह पता महामहिम को हो सका, क्या इतना ही उसे विस्मय-विमूढ करने के लिए काफी न था ?

"दवा कर रही हो ? क्या दवा कर रही हो ?"

"जी ?"

इस बार उसने हिम्मत करके महामहिम की ओर मुह फेरकर उन्हे देखा । महामहिम की आखो मे परिचय देखकर उसे बहुत विस्मय हुआ । बल्कि परिचय से आगे भी कुछ था—चिन्ता थी, करुणा थी ।

"क्या दवा करती हो ?"

"जी, कुछ नही ।"

"गलत बात है—मुझे क्यो नही कहा ?"

"जी, मा दवा नही लेती ।"

"दवा नही लेती !" महामहिम मुस्कराए, बोले, "डाक्टरी दवा नही लेती होगी तो देसी लें । मा की बीमारी पर तुमने छुट्टी क्यो नही ले ली ?"

"जी !"

"अब पहले से आराम है न ?"

"जी ।"

"अच्छा, तो मेज साफ करके और नाश्ता निपटाकर जाकर मा को संभालना और आके मुझे बताना ।"

उपा चित्र लिखी-सी महामहिम को देखती रही। उसे विश्वास न आ रहा था।

महामहिम ने कहा, "वस, हो गई मेज साफ । जो हो ऐमे ही ले आओ। फिर जाओ और मा की खवर लाकर दो।"

उपा मुडी, एकाध हाथ मेज पर दिया और वरावर पैंट्री मे चली गई।

महामहिम को वक्त नही रहता। समय ही ऐमा है। देश विदेश की समस्याए बढती जा रही हैं। स्थिति विस्फोटक आ बनी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वेहद उलझ गई है। राष्ट्र नेताओ के आपसी राग-द्वेष सभाले नही सभलते। वह सब है। लेकिन इस वक्त उपा की मा की तबियत का सवाल जो उनमे उठ आया, सो उन्हे वडा अच्छा मालूम हो रहा है। जैसे वह सब मिथ्या हो और यह सच।

महामहिम सच ही इस समय अपने ऊपर विस्मित है। वहुत-वहुत काम है। सब वेहद जरूरी है। उनसे वचकर वे आए थे और यहा कुर्सी मे ठोढी को हाथ मे लेकर वैठ गए थे। फिर यहा ऊपा आ गई और उसकी मा की बीमारी का ध्यान हो आया। जाने कैसे उडती-सी बात की तरह उन्हे मालूम हुआ था कि उषा की मा की तवियत ठीक नही है। ध्यान देने जैसी वह वात न थी। फिर भी एकाएक उसका स्मरण उठ आया और नागहानी उपा से उसका जिक्र हो आया तो अब उन्हे वडी सार्थकता का अनुभव होने लगा था। मानो वाकी और झमेला हो और अनायास यह एक सचमुच की असलियत बीच मे आ गई हो।

महामहिम जैसे गहरे सोच मे पड गए। दिन रात वह देश और विदेश मे रहते है। पत्नी नही है, कोई नही है। वेटी है, वह भी वस है और जैसे अलग है। मानो उसका होना आनुपगिक हो, असली होना देशो और विदेशो का ही हो।

पर अव इस छोटे से कमरे मे आकर दीवार के पास अकेले खडे वह सोचने लगे कि देश और विदेश जो इस समय मिट गये है, सो कुछ

बुरा नही हुआ है। शायद दिन-रात उनका ही होना और रहना अच्छी बात नही है। कभी-कभी हम तुमको भी होना चाहिए।

अभी वह खडे ही थे कि उषा एक-एक करके चीजें लाती गई और उनके सामने मेज पर सजाती चली गई। वह बैठे नही, देखते ही रह गए। उषा सामान्य-सी लडकी है। असुन्दर नहीं है, पर सुन्दर भी नही है। बहुत ज्यादा जवान भी नही है। उल्लेखनीय कुछ भी उसके आसपास नही है। पर महामहिम उसे देखते रह गए और उन्हे अपने मन मे यह अनुभव बिल्कुल गलत नही मालूम हुआ कि उषा है और देश-विदेश नही हैं। उन्हे बडा अचम्भा मालूम हुआ कि देश-विदेश की उलझने किस आसानी से उतर कर दूर हो जाती है। मनुष्य को सामने और सच बनाने की देर है कि बाकी फिर आप ही गौण और वृथा हो आता है।

सहसा बोले, "बस, बस, उषा। बहुत हो गया। अब तुम मा के पास जा सकती हो।"

उषा चकित-सी बोली, "जी!"

"बस और नही चाहिए। इतने से चल जाएगा। तुम जाओ।"

"मा अब ठीक है।"

"ठीक है तो जाकर मेरा उन्हे प्रणाम देना।"

"जी?"

महामहिम ने रुष्ट बनकर कहा, "इतना भी समझती नही हो क्या?" अपनी मा को जाकर मेरी तरफ से प्रणाम कह देना। और मुझे सब हाल बताना। सुना? समझी? बस अब जाओ।"

उषा जा कैसे सकती थी। ब्रेकफास्ट की तिहाई भी तैयारी नही हो पाई थी। काफी आई थी और बस टोस्ट। इस अधूरेपन मे वह कैसे जा सकती थी?

पर महामहिम खडे थे और वह कह चुके थे, जाओ। मानो रोष मे उन्होने कहा था। सच का वह रोष होता तो वह टिकती ही कैसे?

पर वह तो कृपा से भी बडी करुणा का था । इसलिए और भी आवश्यक था कि वह अपने कर्त्तव्य मे अधूरी न रहे । उसने इसलिए महामहिम की बात को सुना-अनसुना किया और उपाहार के अन्य पदार्थ एक-एक कर वह लाती चली गई ।

महामहिम कुर्सी की पीठ थामे उसी तरह खडे रहे । देखते रहे कि उषा एक-एक कर पदार्थ लाती जाती है और मेज पर करीने से उन्हे रखती जाती है । उन्होने उषा के काम मे कोई व्याघात नही उपस्थित किया । जाने वह क्या सोचते रह गए । निश्चय ही उषा उनकी आज्ञा का उल्लघन कर रही थी । पर यह उल्लघन उन्हे खटक नही रहा था । उनका मन चिन्ताओ और विचारो से मानो इस समय हल्का हो रहा था । वह महामहिम है ! इसी का ध्यान उनसे खो गया था । कोई है जो एक-एक कर तरह-तरह की चीजे लाकर मेज पर रखता आ रहा है । वह स्वय उनमे से किसी को छुएगा नही । उसका काम सिर्फ लाना और रख जाना है । वह तो कोई दूसरा ही है जो उन सब पदार्थों का भोग पाएगा । उन्हे अनोखा लग रहा था यह कि वह दूसरा कोई और नही, स्वय वही है । अब तक कभी उन्हे यह नही सूझा था । प्रकट था कि वह महामहिम हैं और दूसरे सेवक हैं । एकदम वैधानिक था कि दूसरे सेवा करे और वह सेवा पाए । लेकिन इन क्षणो मे वह वैधानिकता बीच से जाने कहा उड गई थी । एक व्यक्ति के मानिन्द होकर कुर्सी की पीठ थामे वह खडे रह गए थे और देखे जा रहे थे कि दूसरा व्यक्ति है जो सहमा डरता हुआ सा उनके लिए एक पर एक व्यजन और पदार्थ लाता और यथाविधि रखता जा रहा है । मानो उसकी कृतार्थता बस इतने मे ही है । उस अस्तित्व की, कौशल की, व्यक्तित्व की धन्यता इसमे है कि वह स्वय उसे स्वीकारे और भोग पाए । इस समय बडा ही अनोखा लग रहा था वस्तुओ का यह विधान और उन्हे अपनी महामहिमा की बात बिल्कुल समझ न आ रही थी ।

चीजें लाई जाती रही और रखी जाती रहीं । महामहिम अन्त

तक बैठे नही। सहसा उन्होने पाया कि जो रह-रह कर जा रहा था, और ला रहा था, वह इस बार जाकर वापस नही आया है। दो एक क्षण इस पर वह ठहरे। फिर पुकारा, "उषा !"

उषा अब जाने की तैयारी मे थी। महामहिम की इस नई अवस्था को देखकर उसने अपना काम कुछ सक्षिप्त अवश्य मान लिया था। अर्थात् कॉफी ढालकर कप स्वय तैयार करके देने की आवश्यकता उसने आज नही मानी थी। यह भी उसे याद आ रहा था कि आज्ञा हो चुकी है, उसे मा के पास जाना चाहिए।

तभी उसने पुकार सुनी और वह उपस्थित हुई।

महामहिम ने कहा, "यहा बैठो और एक कप और ले आओ।"

उषा अविश्वस्त बनी सी खडी रह गई।

"सुना नही, एक कप और ले आओ।"

उषा काप आई और हिल न सकी।

"कहा यह है कि जाकर कप लाओ।"

मानो क्रूरता ही थी महामहिम के शब्दो मे। उषा गई और कप ले आई। और आकर फिर खडी हो गई।

"मै कहता हू बैठो यहा। मेरे लिए कप बनाओ। और अपने लिए भी।"

सचमुच इससे कडा दण्ड उसके लिए दूसरा न हो सकता था। वह बन्दी की भाति आज्ञा पर काम करने लगी।

"क्यो, मा का ख्याल आ रहा है? कहा था तब नही जा सकी। अब काफी खतम करके ही जाना हो सकेगा।"

उषा घबरा रही थी। महामहिम को भी ध्यान आने लगा था विधान की मर्यादा का। कर्मचारी-गण इधर-उधर आ निकलेंगे। वे क्या सोचेंगे? उषा तो इस विचार मे अपने भीतर मरती ही जा रही थी। लेकिन महामहिम उस विचार पर अन्दर ही अन्दर तनिक और उत्साहित हो आए।

"क्या घबराहट है ? मा कोई मर नही जाएगी ।" कहकर महामहिम ने अपने हाथो से उषा के लिए दूसरा कप बनाया। यह आवश्यक इसलिए भी हो गया था कि वाहर के दरवाजे पर एक बटलर दीख आया था । कप बनाकर महामहिम ने उसे आगे बढाकर कहा, "लो।"

यह तो हद ही थी। उषा इस पर उठी और एकदम डर की मारी भागती हुई-सी वहा से चली गई।

महामहिम मुस्कराकर रह गए । सोच उठे कि नही, आदमी ही परस्पर सच नही है । मालूम होता है दूसरी वाते भी सच है । फिजूल की वाते, देश-विदेश जैसी वाते !

जनवरी, '६५

निश्शेष

दरवाज़े पर देर तक थपथपाहट होती रही तो शारदा घुटनो पर हाथ देकर उठी।

दरवाजा खोला तो देखा मुरारी आए हैं।

"नमस्ते भाभी!"

"आओ मुरारी!"

कमरे मे आकर बैठे तो मुरारी ने कहा, "भाई साहब आए है—"

शारदा ने उत्तर मे कुछ नही कहा। उसके चेहरे पर से भी कुछ प्रकट नही हुआ।

"—शाम आए थे, तभी इधर आने को कह रहे थे। लेकिन··· उनकी तबीयत ठीक नही है।"

शारदा चुप ही बनी रही।

मुरारी पर जोर पडा। फिर भी वह कहता ही चला गया—

"खासी है। तीन महीने से, बताते है, खासी का ठसका चल ही रहा है। मुझे तो हालत अच्छी नही मालूम होती।···भाभी, अब पीछे की बाते—"

शारदा ने दोनो हाथो से घुटनों पर फिर जोर दिया और मानो उठने को हुई। बोली, "चाय लाती हू तुम्हारे लिए।"

"नही भाभी, नही। तकल्लुफ की बात नही है। वह मेरे साथ ही आ रहे थे। मैंने रोककर कहा कि पहले मैं देख आऊ।···भाभी, उनके मन मे पछतावा है।"

"किस बात का पछतावा?"

"बीती बातो को भुला दो, भाभी। दो तरफ जिन्दगी बरबाद होनी

रहे, इससे कुछ फायदा है ? भाई अब पहले से बदल गए है।"

शारदा ने कहा, "तुम्हारे भाई है—तुम्हारे पास नही रह सकते ? मै कौन रह गई हू जो यहा आयेंगे ? मुरारी, तुम लोग उन्हे सभाल लो। उनका चौथापन है तो क्या मेरा नही है ? जाना तो मुझे चाहिए था सहारे के लिए उनकी तरफ। वह चले भी जाए, तो उन्हे क्या ? लेकिन मैं तो अकेली नही हू और अपने बाल-बच्चो को जैसे बना मैंने सभाला है। नौकरी कर रही हू और जी रही हू। अब मेरी शान्ति मे, मेहरबानी करें, विघ्न न डाले। बच्चो के लिए भी मैंने उनकी तरफ नही देखा है। मैं जानती हू, ये पन्द्रह बरस कैसे कसाले के मेरे गए है। मैं तो तुम लोगो के घर से निकली हुई हू। फिर मुझे क्यो पूछा जाता है ? उनसे कह देना, सब ठीक है। यहा आने की, तकलीफ उठाने की कोई जरूरत नही है।"

"भाभी, इतना कठोर नही होना चाहिए।"

"तुम भी मुझे दोष दोगे मुरारी ? तो कठोर ही सही। मै अपनी विपदा लेकर तो किसी के यहा नही गई। बस, इतना करो तुम लोग कि मेहरबानी करो। और जैसे छोड़ा है, वैसे ही मुझे अपनी किस्मत पर छूटी रहने दो। मैं और कुछ नही मागती हू।"

"तो भाभी, सच यह है कि भाई साहब नीचे ही खड़े है।"

"नीचे ?"

"कुछ उन्हे भी झिझक थी। कुछ मैंने भी कहा कि जरा देखे आता हू।"

"तो उन्हे नीचे ही से ले जाओ। देखो, मेरा दिन न खराब करो।"

लेकिन शारदा को नही मालूम था। उसकी पीठ थी दरवाजे की तरफ। पर मुरारी ने अपने भाई रामशरण को झाकते वहा देख लिया था और इशारा कर दिया था कि आए नही, ठहरे।

वह बोला—"उनकी नौकरी छूट गई है भाभी ! महीने भर से पुष्कर मे थे। सोचो तुम्ही कि कहा जाएगे ? मेरे पास कब तक रह सकते

हैं, या मेरे छोटे भाई के पास ? तुम भी यहां अकेली हो, वह उधर बेहाल है। पन्द्रह साल बहुत हो गया, भाभी। अब गुस्सा थूक दो और पहली बातों को भूल जाओ।"

"भूल गई हूं मुरारी ! बिल्कुल भूल गई हूं। कह देना उनसे कि यह भी भूल गई हूं कि ब्याह हुआ था।"

"भाभी !"

"मुझे तंग न करो मुरारी, जाओ।"

"मैं अभी आया, भाभी।" कहकर मुरारी उठा और कमरे से बाहर आया। बाहर रामशरण को संकेत किया कि वह जीने से फिलहाल उतर जाए, इतने वह आकर खबर देगा। रामशरण के चुपचाप जीने से कुछ कदम उतर के चले जाने पर मुरारी अन्दर आया और कहा, "अब कहो।"

शारदा ने कहा, "वह दरवाजे पर आए खड़े थे न ?"

"हां, मैंने उनको नीचे भेज दिया है।" 'भाई साहब पर भाभी आपका गुस्सा हो सकता है। मैंने तो गुनाह नहीं किया है। मुझे मौका दिया होता !"

"मुरारी !"

"भाभी, आप जानती हैं कि गिरिस्ती में मुझे एक क्षण का सुख नहीं मिला है। हर समय का क्लेश और कलह। आपके रूप ने भाभी, मेरे मन में क्या जगह ले रखी है, कैसे बताऊं ? कभी नहीं कहा, आज कहता हूं, जब भाई साहब को मैंने खुद ही जीने से उतार दिया है कि·· "

शारदा हंसी। बोली, "मेरे रूप की यह पूजा तुम्हें अब याद आई है !"

"नहीं भाभी ! पहले दिन से जब तुम घर में आईं, मैंने तुम्हें देवी की जगह रख कर पूजा है।"

हंस कर शारदा ने कहा, "पूजा है न ? बस, अब भी पूजते रहो और जाओ।"

"भाभी ?"

"जाओ—"

मुरारी ने जाना नही चाहा। जाने कब की साध थी और आशा मे वह टूटना नही चाहता था। भाभी की मुस्कुराहट ने एकाएक उसे खीच-कर हरिया दिया था और मुरारी चिटका रह गया। उसकी आखो मे जाने क्या भर आया था। चाह तो थी लेकिन उसके मद के साथ जाने कैसी एक विनम्रता और कातरता मिल आई थी। मानो एक साथ वह टूट पडना चाहता हो। भीतर अपने मे और बाहर उस नारी पर।

शारदा ने इस मुरारी को देखा। वह फिर भी हसी। हसी मे बेहद तीखी धार थी। वह आदमी की आशाओ को एक साथ भीतर तक काटती चली गई। उसने कहा, "मुरारी! तुम चले जाओ।"

अनन्तर मुरारी एक शब्द नही बोला। चुपचाप वहा से चला गया।

शारदा पीढे पर बैठी थी। घुटने पर हाथ देकर वह उठी। उसने भीतर बेहद क्लान्ति अनुभव की। जैसे बहुत थक गई हो और जीना बस भार हो। उठकर उसने बाहर जीने का दरवाजा बन्द करने की भी चिन्ता नही की और बराबर बिछे पलग पर एकदम लेट गई। बदन के जोडो मे दर्द मालूम होने लगा था और वह ऊपर सूनी छत मे जाने किस बिन्दु को टक बाधे देखती रह गई थी।

कुछ इसी अचेतावस्था मे उसने जीने से चढते हुए डगो की आहट सुनी। उसे कुछ भय-सा मालूम हुआ। लेकिन वह उठ नही सकी। वैसी की वैसी लेटी ही रह गई।

थोडी ही देर मे मुरारी और रामशरण दोनो चलते हुए कमरे मे आए।

जैसे क्षण भर उसने किसी ओर देखा नही, उस छत मे ही देखती रह गई। उसने उठने की चिन्ता न की। वह आहट से ही समझ गई थी कि आनेवाले कौन हैं। एक अलस विरक्ति मे मानो समझने के बाद भी उसे कुछ करने या सोचने की सुध न हुई। उसमे एक दहशत व्याप

रही थी जो मानो इस विरक्ति से मिल कर जम आई और उसको जड बनाती जा रही थी।

मुरारी के साथ रामशरण थोडी देर आए खडे रहे। फिर जोर से बोले, "यह क्या फैल मचा रखा है?"

नही, सम्भव नही हुआ। काया स्थिरीभूत, निश्चल, निश्चेतन नहीं रह सकी। वह एक झटके से पलग पर उठकर बैठ आई और धोती को माथे के जरा आगे लिया। कहा, "बैठिए!"

रामशरण नही बैठे। और मुरारी भी उनके पास खडे रहे। पलग से उनकी दूरी दो बालिश्त की न होगी। वह सिरहाने की तरफ खडे थे। शारदा उठकर बैठी तो तनिक पायते की तरफ हो आई थी। यह भर दिया था, 'बैठिये'—लेकिन निगाह को मोडकर उधर देखने का कष्ट उसने अपने को नही दिया था। अब धोती की किनार को जरा माथे के आगे लाकर उसने अकम्प स्वर से कहा, "बैठो मुरारी—बैठिए।"

"कोई यहा बैठने को नही आया है!" रामशरण ने तेज होकर कहा, "मुरारी! तुम जाओ, टैक्सी लाओ। ··और सुनती हो तुम! दो मिनट मे तैयार हो जाओ! तुम्हे साथ चलना है। बहुत हो लिया यह हरजायीपन! अब बदमाशी नही चलेगी।"

मुरारीलाल चला गया था। शारदा ने जरा आख ऊपर करके रामशरण को देखा। रामशरण की आखों मे अग्नि थी। वह कुछ देर देखती रही। अब उसमे दहशत नही रही। सकट तब तक ही था कि जब दूर था। अब बिलकुल पास आने पर मानो वही एक निश्चय और स्फूर्ति के उदय का कारण बन गया था। उसने स्वर को भरसक थाम कर कहा, "खडे क्यो हो। बैठ जाओ।"

"कोई जरूरत नही है बैठने की, और उठकर तुम दो मिनट मे तैयार न हुई तो······"

"कुछ लाए हो—तमंचा वगैरह?"

रामशरण ने कहा, "यह हाथ काफी है। क्यो, पहली मार भूल गई ?"

शारदा बैठी-बैठी मुस्कुराई। उसके भवो मे तेवर थे। बोली, "बार-बार तुम्हे मारने का कष्ट उठाना पडेगा—अगर जीती रहने दोगे। एक बार मे खतम क्यो नही कर देते ?"

"खतम ही करना होगा, एक बार। अभी यहा से चलना होगा।"

"कहा ले चलोगे ?"

"बैठी-बैठी बातें न करो, खडी हो जाओ। जहा मैं रहूगा, वहा तुम रहोगी।"

'रहती तो थी! निकाला तुम्ही ने नही था ?"

"निकाला था, मैंने ही निकाला था। इसलिये निकाला था कि तुम घर के लायक नही थी। लेकिन अब देखता हू कि पति का कर्त्तव्य उतना ही नही है। घर की रक्षा के लिए तुम्हे निकाला था। पर देखता हू वह तुम्हे और मौका देने के बराबर हो गया। हद हो गई है तुम्हारे हरजाई-पने की। तुम समझती हो तुम गुलछर्रे उडाने के लिए हो! नही, तुम्हारा ब्याह हुआ है। और पुश्चली व्यभिचारिणी को घर मे रखने का धर्म अगरचे नही है तो भी अब मैंने पहचान लिया है कि पति होकर मैं तुम्हे उस आवारगी के रास्ते पर बढते जाने का पाप अब नही सह सकता। आज समझ लो, तुम्हारी बदमाशियो का अन्त आ गया है।"

शारदा मुस्कराई। बोली, "मुरारी कहता था, नौकरी छूट गई है!"

"तुझे इसी का गुमान है, बदकार, कि तू बी० ए० एल-टी० है और नौकरी पर बहाल है! औरत की जिन्दगी खाविन्द के साथ है। और वह भीख मागेगा तो भी औरत को उसकी सेवा करनी है। ब्याह पैसे से होता है कि मर्द से होता है ? चलो उठती हो कि नही ?"

शारदा ने कहा, "मुझे इस वक्त पौने चार सौ मिल रहा है। दिल्ली बडी जगह है। ढूढोगे तो तुम्हे भी काम मिल जाएगा। यही क्यो नही रह जाते ?"

"यह क्या कह रही हो तुम ?"

"ठीक कह रही हू। दिल्ली मे काम देखते रहना। कहां इधर-उधर जाते हो। बताओ, इस बीच कुछ बचाया है तुमने ? न बच्चो को कुछ दे सके हो। तन भर पाला है, सो तो यहा भी हो ही जाएगा।"

"मैं यहा रह सकता हू ?"

"क्यो नही रह सकते हो !"

"मुरारी तो कहता था कि ..."

"तुमने मुरारी को अधिकार दिया है कि—तुम्हारी जगह वह मेरे साथ ..."

"क्या बक रही हो ?"

"—मगर शर्त है कि तुम आदमी बनकर रहो। रह रहकर जो तुम उपदेशक और वहशी बना करते हो, सो नही चलेगा।"

"तुमने समझा क्या है अपने को ? बकवास बन्द करो। और तैयार हो जाओ। कोई नौकरी-वौकरी नही होगी। और जैसे मैं रहूगा और कहूगा, वैसे तुम्हे रहना और करना होगा। शर्म नही आती तुम्हे कि मैं खडा हू, और तुम बैठी बतला रही हो ?"

शारदा पलग पर अपनी जगह से भी अब खडी नही हुई और मुस्कराकर कहा, "अभी मुरारी के यहा तुम ले जाओगे—शर्म की बात यह है। मैं वहा नही जाऊगी।"

"छोडो, न सही। मुरारी वैसे अपना है और मोतबिर है। लेकिन कोई बात नही। सीधे मेरे साथ चलो, जयपुर।"

"जयपुर !"

"मालिक लोग अब भी चाहते हैं। नौकरी मैने अपने से छोडी थी।" "रामू कहा है ? कब आएगा ?"

"वह तो शाम को सात-आठ तक आता है। सात मील जाना पडता है। बडी मुश्किल से साल भर भटकने पर नौकरी लगी है !"

"तो—वह यहा रहेगा।"

"सवा दो सौ उसे मिलता है। उतने मे दिल्ली मे कैसे रह लेगा?"

"न होगा, हम कुछ भेज दिया करेंगे। और वस अब तुम उठ जाओ।"

शारदा ने बैठे ही बैठे कहा, "अगर मैं न उठू तो?"

रामशरण ने पजा खोलकर दिखाया और जतला दिया कि न उठने का मतलब क्या हो सकता है।

शारदा की मुस्कराहट इस पर और भी कटीली हो आई। उसकी चितवन मानो रामशरण को घायल करने लगी। मानो उस चितवन मे वर्जन की जगह आमत्रण हो।

शारदा बोली, "मुझे खडे होने को कहते हो। अच्छा था—तुम्ही बैठ जाते।"

उस चितवन की भाषा का अपने मन के अनुसार अर्थ पढकर रामशरण ने कहा, "मुरारी टैक्सी ला रहा है।"

"लाने दो। मुरारी उसमे बैठकर चला भी जाएगा। फिकर क्या है।"

"शारदा!"

"मुरारी का तुम भरोसा करते हो!"

"तुम सच कह रही हो?"

"मैं तुम्हारे भरोसे को तोडना नही चाहती। लेकिन···"

"आने दो उस कम्बख्त को!"

शारदा मन ही मन हसी। बोली, "यह तुम्हारे वह भाई है जिनके पीछे तुमने मेरे साथ जाने क्या वदसलूक नही किया!"

"मुझे पहले क्यो नही वताया—खून पी जाता उसका।"

"अब भी कहा बताया है? वह तो बात मे बात आ गई। और बताया इसलिये नही था कि मुझे अपने पर भरोसा था, और है। तुम्ही

हो कि उन्हें अपना आधार मानते हो।"

इतने में मुरारी टैक्सी लेकर आ गया। रामशरण ने कहा, "मुरारी! टैक्सी में जाओ और मेरा सामान यहीं ले आओ। मैं नहीं समझता था—"

मुरारी कमरे में आकर असमंजस में खड़ा रह गया था। शारदा पलंग पर बैठी थी और रामशरण खड़े थे।

शारदा ने कहा, "बैठो, मुरारी। और तुम भी बैठो न। ऐसी जल्दी क्या है सामान की?"

"तुम चुप रहो!" "मुरारी, जाओ! मुझे ऐसी आशा न थी तुमसे, मैं यहीं ठहरूँगा। सभी सामान मेरा लेकर आ जाओ।"

मुरारी पलंग से ज्यादे दूर नहीं था। शारदा ने हाथ बढ़ाकर उसे बाँह से पकड़ा और उसी पलंग पर बिठाते हुए कहा, "तुम भी बैठ क्यों नहीं जाते हो, कुर्सी पर! और मुरारी, इनकी बात पर मत जाना। क्यों, सामान लाना ही है? मैं फिर जाकर ले आऊँगी।"

"नहीं। मुरारी को जाने दो।"

"तो अच्छा मुरारी, टैक्सी ले जाओ। दो घण्टे बाद आना। सामान फिर देखा जाएगा।"

मुरारी ने जाने से पहले रामशरण को देखा। रामशरण ठूँठ की तरह खड़े रहे। मानो उनकी अनुमति है। मुरारी कुछ देर असमंजस में रहा और फिर चला गया।

रामशरण कुछ देर साँचे में तेवर डाले खड़े ही रहे। फिर आकर पलंग पर बैठ गये। शारदा जरा परे हट गई।

"क्यों, क्या बात है?"

"तुम—क्या कह रहे थे?"

"यह ठीक नहीं है हम लोगों का अलग रहना। दस जने दस बात कहते हैं। और बच्चों पर बुरा असर पड़ता है।"

शारदा ने देखा। यह उनका पति है। उसका मन अन्दर से जल

रहा था। और निगाह उसकी कठिन थी। बोली, "पड चुका असर जो पडना था। बच्चे अब बडे हो गए हैं। दस जनो के कहने की फिकर करते हो! तुमने क्या-क्या कहा है, वह याद नही करते ?"

"छोडो उन बातो को।" कहते हुए रामशरण जरा उधर सरके।

शारदा परे हट गई। बोली, "आगे न बढना!"

"क्या मतलब ?"

"मतलब अपने से पूछो!"

"और मुरारी को बाह पकडकर पास बिठा लिया था!—"

"हा, बिठा लिया था। दस बार बिठाऊगी। पर खबरदार तुम··"

रामशरण का उस स्त्री से विवाह हुआ था। सात भावरें पड़ी थी। फिर यह उसकी हिम्मत! तेजी से बाह बढाकर उसने शारदा की कलाई को पकड लिया। शारदा उसके लिए एक साथ अत्यन्त कमनीय और भर्त्सनीय हो आई थी।

हाथ का छूना था कि एक झटके से शारदा ने अपनी बाह छुडा ली, "खबरदार! जो हाथ लगाया।"

रामशरण ने दात पीसकर कहा, "ओह! पारसा बनती है। बद-जात, छिनाल कही की।" और कहते हुए फिर उन्होने हाथ फेंका।

शारदा तेजी-से पलग से हट गई। बोली, "मै छिनाल सही। पर तुम मुझे नही छू सकते।"

"तुझे? तुझ हरजाईन को! छुए तुझे तो पाप लगे। तैंने अपने को समझा क्या है ?"

शारदा हस आई। कटीली वह हसी थी। बोली, "यही कहती हूं कि पाप लगेगा, छूना मत।"

रामशरण पलग के सिरहाने के करीब थे। शारदा पायते से जरा हट कर खडी हुई थी। उसकी आखो मे चुनौती थी और रामशरण की निगाह मे चाहत और नफरत की झुलस थी।

"तू अपने को खूबसूरत समझती है। इसी गुमान ने तुझे बहका

दिया है। पर.... "

"मैं कुछ हूं, पर तुम छू नहीं सकते।"

"मैं छू नहीं सकता ? मैं तेरी बोटी-बोटी कर सकता हूं। पर छिनाल, सच बता, तूने मुझे रोका क्यों ?"

"मैंने नहीं रोका।"

"अब ये नखरे !—मैं तुझे समझ लूंगा।"

"तो सुनो ! इसलिए रोका था कि मैं तुमसे अकेले में भुगत लेना चाहती थी। मुरारी के सामने ख्वारी नहीं चाहती थी। कान खोलकर सुन लो। यह शरीर तुम्हें अब कभी नहीं मिलेगा। एक दफे नहीं, दस दफे कह चुकी हूं। फिर शर्म नहीं आती तुम्हें कि लार टपकाते आते हो। भगवान के घर में न्याय है, तो तुम्हें मिट्टी की औरत नहीं मिलेगी। औरत के मन थोड़े ही होता है! तुम समझते हो मन तुम्हारे ही है। जो भुगता है, मैं ही जानती हूं। कोई और होती तो शकल न देखती। घर तक में कदम न रखने देती। पर तुम तो धरम चाट गये हो। मालूम है तुम्हें कि तुम्हारे बच्चे छोटे कैसे पले हैं ? और उन वक्त तुम उपदेश पै चढ़े हुए थे। इन्सान को जीना होता है और जिलाना होना है। पहला फर्ज वह है, तुम फर्ज को किताब में और शास्तर में टाले रहे। ऊपर से बैठ कर गालियां देते रहे और खबर नहीं ली कि जिया जा रहा है तो किस विधि जिया जा रहा है। जीने में पैसा लगता है। तुमने कमाया ? कभी कुछ किया ? कभी कुछ दिया ? बस देने को नीति के उपदेश रहे, जैसे उन्हीं से पेट भरना हो। और कपड़े उन्हीं को काट-काट कर बन जाते हों।' तुम्हें इसलिए मैंने रोका कि आखिरी बार सुन लो कि तुम जाओ अध्यातम में और धरम में रमो। और जगह-जगह जाके उपदेश छांटा करो। हमको हमारे भाग पर छोड़ दो। कोई पैसा तुमसे नहीं मांगता, कोई तुम पर बोझा नहीं बनेगा। बेटियां गईं हम मां-बेटे जैसा होगा रह लेंगे। तुम्हारे आगे कोई हाथ पसार के नहीं आयगा। मैंने कुछ कहा था कि दिल्ली में कुछ काम-धाम देख लो

और साथ मे खर्चा ज्यादे नही लगेगा। पर वह नही होगा। यहा दिल्ली मे तुम्हे नौकरी मिल जाए, चाहे कितना ही तुम पाने लगो, मुझे उससे कोई मतलब नही होनेवाला है। मैं साथ नही रहूगी, नही रहूगी, नही रहूगी! मैं हरजाई हू, छिनाल हू, वेसवा हू, पर मरते-मरते तुमसे कुछ कहने नही आऊगी। अन्त समय है। मेरी शान्ति मे तुम विघन मत डालो। तुम्हारा जहा मन लगता हो, धर्म के स्थानो मे, तीर्थों मे—जाके तुम भी शान्ति से रहो। और समझ लेना कोई शारदा थी तो वह मर गई।"

रामशरण सुनते रह गए थे। गुम और सुम अन्त मे बोले—

"तुम्हे मेरे साथ चलना है।"

"नही चलना है!"

"कहता हू, चलना है।"

"नही, नही चलना है।"

"नही चलना है—नही ही चलना है?"

कहते-कहते रामशरण तडित वेग से आगे वढे और शारदा के गालो पर जोर से चाटा जड दिया।

शारदा का गाल चाटे की चोट पर तमतमा आया। लेकिन उसमे क्रोध नही हुआ। वह झुझलाई भी नही। एक हाथ अनायास उसका अपने चोट खाये हुए गाल पर चला गया और मानो तनिक मुस्कराती हुई वोली, "साथ लाश को ले चलोगे? लाश सडेगी, काम न आयगी।"

रामशरण ने कहा, "मैं थूकता हू तुझ पर और तेरी लाश पर। वदजात, रडी!"

और सचमुच रामशरण ने हलक से थूक निकाल कर शारदा पर थूक दिया और तेज कदमो से मुडकर वह जीना उतरते चले गये।

शारदा ने धोती के पल्ले से अपना मुह पोछा। शीशा लेकर गाल की चोट का निशान देखा और सन्तोष की सास ली। जैसे वची हो और जीती हो!

जनवरी '६५

यथावत

जगरूप मैट्रिक की परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मे पास हुआ। मनोरमा को यह सुनकर सुख हुआ। पर बहुत जल्दी वह चिन्ता मे पड गयी।

मनोरमा एक प्राइमरी स्कूल मे अध्यापिका है। महीने का उसे पहत्तर रुपया मिलता है। इस कस्बे मे एक हाई स्कूल भी है और वहीं से जगरूप ने मैट्रिक किया है। यह तो जैसे-तैसे चल गया। मनोरमा सोचती थी कि मैट्रिक पढ लेने के बाद यही किसी काम-धधे मे लग लगा जायगा। उसने कुछ लोगो से इस बारे मे कहकर भी रखा था। लेकिन उसे डर था। जगरूप पढने मे तेज था और मनोरमा को डर लगा रहता था कि अगर मैट्रिक मे वह बहुत अच्छे नम्बरों से पास हुआ तो फिर क्या होगा ? वह चाहेगा कि आगे पढे, शायद मास्टर लोग भी चाहेंगे। खुद उसके मन मे भी यही होगा कि आगे पढे। पर यह आगे पढना होगा कैसे ?

अपने चारो तरफ देखती थी और यह डर उससे दूर नहीं होता था। बारह-तेरह साल से इस कस्बे मे अकेली रहती है और मास्टरी करती है। इसमे विशेष कठिनाई नहीं होती है और आसपास लोगो मे उसके लिए अच्छे भाव हैं। पर उस सबसे तो कुछ नहीं होता। होता सब पैसे से है। और पैसे का सवाल आने पर चारो तरफ टोलकर मन उसका रुका रह जाता है।

जगरूप ने अपने पास होने की खबर खुशी खुशी अपनी मा को सुनाई। आगे के सपने अरमान भी बतलाए कि कैसे वह कालेज मे जाएगा, बी० ए० करेगा, एम० ए० करेगा। और मा तुम कुछ फिकर न करो। सुनकर मा उस सलोने जगरूप को देखती रह गयी। सोचती

क्या ? फ़िक्र का पहाड मानो उसके सिर पर आ टूटा था। यही कही, कस्बे मे, काम-धन्धे मे, लग जाता तो चिन्ता मिटती। फर्स्ट क्लास पास हुआ है, तो उसका हक है कि कालेज की सोचे। कालेज यहा कहा धरा है ? और यह जाना चाहता है इलाहाबाद !

इलाहाबाद की जगरूप ने बडी महिमा बतायी थी। जरूर इलाहाबाद की पढाई ऊची और बढिया होती होगी। पर इलाहाबाद ?

यह सब भाव मनोरमा के देखने मे था। जगरूप कैसा होनहार लगता है। सच वह मा के सकट काटेगा। लेकिन इलाहाबाद ? वहा के कालेज की पढाई ??

उसने कहा, "मै आगे तुझे कैसे प॰ा सकती हू, बेटा ? बाहर तो खर्चा बहुत होगा।"

"खर्चा तो होगा मा। पर आगे की भी तो सोचो कि बेटा तुम्हारा ऊचा अफसर बनेगा और फिर कोई कष्ट तुमको नही होने देगा।"

उतने आगे की मनोरमा नही सोचती है, सो नही। कितना सुख होगा उसे कि बेटा अफसर होगा और मा घर मे राज करेगी। पर मन वहा जाकर ऐसे रमता है जैसे सपना हो। आख खुलने पर वह एकदम दूर हो जाता है और मालूम होता है कि उसका न सोचना ही अच्छा है।

"मै तो कर नही सकती हू ··वज़ीफे मे तेरा नाम नही आया है ?"

"नही, दो पोजीशन कम रह गए है।"

"और भी तो लोग वज़ीफे दिया करते है ? कोशिश कर देख।"

"वह तो कर रहा हू मा। लेकिन कहते हैं सिफारिश चाहिए।"

"तेरे मास्टर लोग सिफारिश नही कर देंगे ?"

"वह तो सब करने को तैयार हैं, लेकिन कहते हैं कि सिफारिश बड़ी चाहिए।"

"तो फिर ? अगले साल देखा जायगा। मैने यहा उन फर्नीचर वालो मे कह कर रखा है। तीन-चार महीने तो काम सीखना होगा, फिर वे कुछ देने लग जायेंगे। ऐसे बहुत ही पढना चाहे तो पैसा जमा

करके आगे पढ भी सकते हो तुम।"

जगरूप ने कहा, "अच्छा।"

लेकिन मरे मन से यह 'अच्छा' उसने कहा था। मनोरमा न जानती हो सो नही, पर क्या कर सकती थी। सच पूछो तो बेटे का मन जितना गिरा था, उससे कही गहराई मे उसकी मा का मन जा पहुचा था। उसको अपनी बेबसी इस वक्त बहुत ही चुभ रही थी। अपना अतीत उसके लिए सब व्यतीत हो चुका था। पर इस हालत मे वही उखड-उखड कर उसके सामने आने लगा और उसमे से नाना सभावनाओ की चिनगारिया भी चमक देती हुई फटने लगी। पर वह संभावनाए जब थी, तब थी। अब तो सब सपाट हो गया है और आगे कुछ भी नही है।

जगरूप 'अच्छा' कहकर वहा से चला गया था। मा मन मारे बैठी रह गई थी। अतीत उससे कट चुका है। जगरूप को उसे देकर वह स्वय मिट गया है। लेकिन क्या मिट ही गया है? जगरूप के बाहर क्या उसका कुछ भी अब वर्तमान नही है। उसकी स्मृतिया जाती हैं और लौट आकर सिर्फ उसको मथ कर रह जाती हैं।

ऐसे दिन निकलते गए। जगरूप का हसना-खेलना बन्द हो गया। ज्यादातर घर से बाहर ही रहता। घर मे दीखता तो उदास और मलिन। वह मा से कुछ न कहता था। लेकिन एक-एक दिन वह गिन रहा था और उसकी निगाह मे वह तारीख थी, जो कालेज के दाखिले के लिए फारम जाने की अतिम तारीख थी। उसने चुपचाप फारम मगा-कर बड़े सुन्दर अक्षरो मे भर कर अपने पास रखा हुआ था। वह निराश तो था लेकिन इधर भगवान का भरोसा भी उसमे होने लग गया था। भगवान सब कुछ कर सकते है। बिलकुल हो सकता है कि एक दिन वह उठे और तकिए के नीचे उसे फीस के पूरे रुपये रखे मिल जाए! क्यो नही हो सकता है? जरूर हो सकता है। भगवान की कृपा से इससे बडी बडी बातें हुई हैं। यह तो भगवान के लिए एकदम जरा सी बात

है। भगवान का भरोसा उसमे इतना हो गया है कि तकिए के नीचे रोज टटोल लेता है। पर यह क्या जरूरी है कि रुपये तकिए के नीचे ही रखे जाए ? इसलिए दिन जाते-जाते वह इधर-उधर आले मे या खाट के पास या खाट के नीचे भी रुपए के लिए देखने लगा है। उसकी याद मे वह तारीख बराबर उभरती जा रही है कि जो दाखला फारम के लिए आखिरी है। उसे कभी होता है कि भगवान को तारीख की याद न रही तो कैसे होगा ? पर धत्, ये कैसे हो सकता है। भगवान मे भूल कैसे हो सकती है ? कमी भक्ति मे रहे तो दूसरी बात है। भगवान सब जानते है और सबके सहाय होते हैं।

मैट्रिक तक की पढाई कम नही होती है। इतने मे लडका अच्छी तरह जान सकता है कि भगवान कोई नही होते, कही नही होते। बल्कि यह ज्ञान तो उससे पहले भी हो जाना चाहिए। जगरूप को यह सब मालूम है। भगवान का भेद मालूम है कि ढकोसला है। उसका विषय विज्ञान है कि जिसके हाथ मे सृष्टि का रहस्य है। फिर भी भगवान क्यो नही हो सकते ? मान लो अगर हो, तो ? मतलब कि ठीक तारीख से पहले भगवान पर भरोसा रखने से वह चूकेगा नही। तारीख अकारथ गई तो फिर ते है ही कि क्या सच है, क्या झूठ !

जगरूप अपने मे रहने लगा। मा से कहने को उसके पास मानो अब कुछ बचा नही है। उसकी तकदीर अलग है और मा उसमे कुछ नही कर सकती।

मां इस सत्रह वर्ष के जगरूप को एकाएक पाती है कि वह उसकी समझ से बरबस बाहर हो गया है। उसका हाल ही नही मिलता। पहले सब तरह की शिकायते उसके पास लाया करता था और तरह-तरह के उलाहने। अब अपने मे समाया रहता है और जाने किस धुन मे रहता है। उसके अदर इस बात पर एक गहरी उदासी घर करती जाती थी। जैसे अदर से कुछ खोखला हुआ जा रहा है। जैसे बरबस उससे कुछ छीना जा रहा हो। उसने कहा—'जग्गी, बेटा, इतने न हो

कुछ काम ही कर लो। मै कहू उन लोगो से ?"

"नही मा, भगवान कुछ अवश्य करेगे।"

जग्गी बेटे ने उत्तर दिया और वह मा की उपस्थिति से झटपट अलग हो गया।

मनोरमा भगवान को मानती है। पर क्या वह सचमुच कुछ करते है ? अभी तक तो कुछ करते उसने उन्हे देखा नही है। जगरूप का, भगवान का भरोसा उसे अन्दर तक काट गया। उसे ऐसा लगा कि जैसे यह उसका भगवान का भरोसा सिर्फ इसकी घोषणा है कि मा का भरोसा तो अब किया नही जा सकता ! मनोरमा इस पर गहरी पीडा से भर आई और उसकी आखो मे आसू आ गए।

अकेली थी। आसू कब तक बहाती, किसके लिए बहाती ? अत मे हठात् और मानो व्यस्तता के साथ इधर की चीज उधर और उधर की इधर उठाने-धरने लगी। इसी मे उसने यह देखा, वह देखा, और अपने सब ट्रक-बक्स खोल-खोलकर बन्द करने लगी। अन्त मे एक ट्रक के आगे, उसकी चीजो-कपडो को उठाते-पटकते के बीच, वह वैसी-की-वैसी बैठी रह गई।

दो-चार, छ-आठ मिनट वह ट्रक का एक हाथ से पल्ला पकडे, सामने अधर शून्य मे टक बाधे बस देखती रह गई। उसकी सुध जाने कहा गई थी और वह समाधि मे हो आई थी। अन्त मे उसने ट्रक की तलहटी मे से एक कागज मे लिपटा और रेशमी रिबन से बधा पैकिट बाहर निकालकर अपनी गोद मे रखा। और फिर बेहद आहिस्ता और सभाल के ट्रक का सामान ट्रक मे चिन दिया। अब उसमे एक समाहित भाव था। मानो अधर मे पाव कही टिक आए हो।

जगरूप के आने पर मनोरमा ने कहा, "बेटा, दाखिला कब होता है ?"

जगरूप ने मा को देखा और प्रसन्नता से कहा, "क्यो, मा ?"

"कुछ नही, भागलपुर चलना होगा।"

"भागलपुर ?"

"हा, वखत देरा के वता कि रेल कब-कव जाती है ? और ले यह जरा दो टिकट वहा के ले आ।"

जगरूप ने फिर मा को देखा। भागलपुर दूर जगह है और काफी खर्चा होगा। भागलपुर का कभी उसने जिक्र नही सुना है—फिर यह मा को क्या हुआ है ? लेकिन उसकी मा के चेहरे पर कुछ वह था कि जिसके आगे प्रश्न का अवकाश नही रह जाता है।

वह रेल मे जा रहा है और उसे कुछ नही मालूम है। मा चुप है और एक शब्द नही बोलती है। उसने बार-वार प्रश्न किया है और मा ने मानो सुना तक नही है। मा की दृष्टि स्थिर है और उसमे कोई गति नही है। जगमोहन अपने सामान मे फारम वगैरह लेता आया है। उसके मन मे है कि भगवान काम कर रहा है। भगवान के अजब ढग है। लेकिन मा को देखकर उसे सशय होने लगता है कि सब ठीक है कि नही। मा से एक भी शब्द पाना उसके लिए सभव नही हुआ है। यह सब उसके मन को हिला देता है। उसे आगे पढना है और जरूर पढना है। लेकिन मा को क्या हुआ है ?

भागलपुर गाडी वडे वेवक्त पहुची थी। रात को उतर कर मा-वेटे मुसाफिरखाने मे सो गए और सवेरे उठने पर मा ने कहा, कि वेटा तुम सामान के साथ ही सावधानी से रहना। यह पैसे लो, कुछ खा-पी लेना। मैं अभी थोडी देर मे आती हू।

मा की वही मुद्रा थी और जगरूप कुछ भी उनसे पूछ नही सका। पूरा दिन अभी नही निकला था और मा पाव-पैदल उसके सामने से वढती चली गई और वह उन्हे देखता सामान के साथ वैठा रह गया !

* * *

मनोरमा ने कुछ दूर चलने पर रिक्शा लिया और पूछती हुई वह सीधे भागलपुर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बंगले पर पहुची। वहा उसको प्रवेश तो मिल सका लेकिन मालूम हुआ कि साहव को डेढ-दो घटा लग

सकता है, अभी बैठना होगा। मनोरमा बरामदे मे जो स्टूल बताया गया, उस पर शान्ति के साथ बैठकर इन्तजार करने लगी।

आजकल अनिश्चित दिन है और शासन को कसा रहना पडता है। वर्मा साहब यू भी परायण और योग्य समझे जाते हैं। वह काफी सवेरे उठ जाते है और तैयार होकर मेज पर आ जाते हैं। आते ही एक कप चाय का लेकर दो ढाई घटे तक लगातार काम करते है। इस काम के बीच उन्हे व्याघात पसन्द नही होता। इसीलिए कहला दिया गया कि डेढ घटा लग सकता है।

लेकिन बीच मे घटी बजाकर अर्दली से उन्होने पूछा, "आए है जो साहब, बैठे है न ? उन्हे कोई जरदी तो नही है ?"

"जी, नही बैठी है।"

"कौन ? स्त्री है ?"

"जी, हुजूर !"

"तो' अभी ज़रा बैठेंगी। माफी माग लेना'''कहा बिठाया है ? बैठक मे बैठेंगी।"

अर्दली ने विशेप चिन्ता न की। और बरामदे मे स्टूल पर मनोरमा बैठी रहने दी गई।

थोडी देर डी० एम० अपना काम करते रहे। फिर हाथ उठाकर कुर्सी के पीछे टिके, अगडाई ली और एकाएक खडे होकर चले और अपनी बैठक मे आए। बैठक मे कोई न था। लौटकर उसी मेज पर आए और घटी दी। अर्दली के आने पर उसे उन्होने रोप से देखा और कहा, "उन्हे भेज दो !"

मनोरमा आकर झुकी और सामने की एक कुर्सी पर बैठ गई।

"कहिए, मैं क्या कर सकता हू आपके लिए ?"

मनोरमा ने उठकर रेशमी रिबन से लिपटा वह पैकिट डी० एम० के सामने किया।

डी० एम० ने आभार मानते हुए पैकिट लिया और मेज पर एक

तरफ रख दिया और कहा, "सेवा बताइए—मैं क्या कर सकता हू ?"

मनोरमा चुप बैठी रही। वह गहरे असमंजस मे थी। ऐसे एक-दो मिनट बीत गये। डी० एम० उसे देख रहे थे। उसने धीमे-धीमे कहना शुरू किया, "मेरा एक लडका है। सत्रह वर्ष की अवस्था होगी।"

डी० एम० देखते रहे। एकाएक बोले, "आप यही रहती हैं ? भागलपुर जिले मे ?"

"जी, नही। दूर से आई हू। लडका मैट्रिक मे फर्स्टक्लास आया है। आगे पढना चाहता है।"

डी० एम० देखते रहे। वह कुछ याद करना चाहते थे। याद मदद नही कर रही थी। अनायास बोले, "भागलपुर जिले की आप नही हैं?"

"नही।"

"तब तो· " कहते हुए, अनायास उनका हाथ पैकिट की तरफ बढा और खीच कर उन्होने उसे पास लिया। उगलियो से रिबन को खोलते हुए बोले, "इस जिले की होती तो शायद मै कुछ कर सकता था। अब निज निजी तौर पर कुछ दे भी सकू, ज्यादे इन्तजाम तो मुश्किल है।"

मनोरमा कुछ बोली नही। वह पैकिट को खोलती हुई डी० एम० की उगलियो को देखती रही।

"आपका शुभ नाम ?"

"जाने दीजिये ·।"

रिबन खुलने पर उन्होने कागज हटाया। उसके अन्दर फिर एक कागज की तह को हटाया। आखिर सबसे अन्दर की तीसरी कागज की तह को खोला और नीचे जो चीज निकली उसको क्षण :एक देखते रह गए। मानो समझ न पा रहे हो।

मनोरमा ने उस निगाह को देखा। तेजी से उठकर वह गई और उसने दरवाजे की चटकनी अन्दर से बन्द कर दी। दूसरे दरवाजे को भी बन्द कर दिया। अब वह फिर अपनी कुर्सी पर आ गई बोली, "मै मनोरमा हू।"

"मनोरमा ! · यह क्या है ?"

"अगिया है ।"

डी० एम० खडे हो गए। बोले—"यह क्या बदतमीजी है ?"

उठकर वह खुद गए और देख लिया कि हा चटकनी बन्द है । दूसरे दरवाजे की भी बन्द है। वह फिर अपनी जगह पर आ गए और खडे रह गए । अब उन्होने मनोरमा को देखा—क्या सच, वह मनोरमा थी ! वह यकीन नही करना चाहते थे। उसके लिए काफी अवसर भी था। बोले—"यह क्या तमाशा है ?

मनोरमा ने धीमे से कहा—"मेरे पास इससे कीमती उपहार दूसरा नही था । यह वही फटी अगिया है !"

"मनोरमा !"

"नही, मैं याद दिलाने नही आई। लज्जित करने भी नही आई हू । उससे क्या मिलेगा—तुम्हे या मुझे ?"

"मनोरमा !"

"मैं तो जान-बूझ कर दूर हो गई थी। मा-बाप से और तुमसे । तुम्हारे साथ बधकर तुम्हे रोकती और खुद को भी बोझ बनाती, क्या फायदा था उस सबसे । ··अब बेटा सत्रह वर्ष का है। जगरूप नाम रखा है। नही तो क्या, जग का रूप तो है ही । फर्स्ट क्लास आया है। आगे कालेज मे पढना चाहता है। मेरे पास इन्तजाम नही है। तुम्हे कष्ट न देती, पर वह बहुत पढना चाहता है और "

"वह जरूर पढेगा। जहा तक चाहेगा पढेगा । ·पर तुम गायब कहा हो गई थीं मनोरमा ? मैंने बहुत याद किया ।"

"किया ही होगा !"

"अब तुम क्या कर रही हो ?"

"नौकरी कर रही हू, पढा रही हू ।"

"तुमको दया नही आई मुझ पर ? कि·· "

"प्रेम मे दया कब होती है ? तुम दया नही कर सकते थे, मै दया नहीं

कर सकती थी। दया मे एक दूसरे को हम भरते नही, मारते ही रहते। वह कैसे हो सकता था। तुमसे नही हो सकता था—मुझसे नही हो सकता था। अब भी दया नही है जो मागने आई हूँ। जगरूप मेरा है, वैसे तुम्हारा है।"

"कहा है?"

"स्टेशन पर छोड आई हू।"

"स्टेशन पर? ·तुम कितनी बदल गई हो मन्ना!"

"नही, बदली नही हू। यह अगिया तुम रखोगे या मेरे पास रहने दोगे?"

"मैं उस दुस्साहस की क्या अब माफी माग सकता हू?"

"वही प्रेम की निशानी है। साहस नही जिसमे वह प्रेम होता भी है?—लाओ, मुझे दो।"

मनोरमा ने उसी ऐतिहात से फटी अगिया को कागज की तीन तहों मे लपेटा और रिबन से बाधा। डी० एम० देखता रहा।

बस। ' और आगे कहानी की आवश्यकता नही है। कारण, जगरूप इलाहाबाद कालेज मे पढने चला गया, और मनोरमा अपनी प्राइमरी कन्या शाला मे आ गई, और भागलपुर के डी० एम० अपने प्रशासन के काम मे व्यस्त रहे चले गए।

दिसम्बर '६४

विच्छेद

एक बुजुर्ग बहुत दूरसे आए हैं। सिर्फ इसीलिए आए है। परिवार के हितैषी है और जब संकट की बात सुनी तो उनसे रहा नही गया। दो-तीन रोज भी बडे बैचेनी से कटे। अत मे वायुयान से यहा आ पहुचे।

उन्होने एकान्त मे सविता से पूछा, "सवि! तुम बहू हो, लेकिन उससे भी अधिक मेरे लिए बेटी हो। सुनता हू बात जरा सी है, उसको मान जाती तो क्या हरज था? तुम लोगो के परिवार की क्या जगह है, तुम जानती हो। वह टूटे, इसको कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है। कहो, मेरी एक बात रख सकोगी?"

सविता गुमसुम बैठी रही, वह कुछ न बोली। पैंतीस वर्ष की अवस्था होगी। दो बच्चो की माता है। कन्या का विवाह भी हो चुका है। फिर भी वह कुछ नही बोली।

बुजुर्ग कुछ देर तक उत्तर की राह देखते रहे। फिर आप ही बोले, "मै जानता हूं, तुम्हे इस समय कितना कष्ट होगा। अवश्य कुछ गहरी बात होनी चाहिए कि तुम मान नही पाती हो। मैंने सुना है, सारा परिवार असहमत है। तुम अकेली पड गई हो अपनी बात मे। जरूर उसमे कुछ सत् होगा कि तुम अकेली सबके सामने टिक सकी हो। लेकिन बेटा, घर की इज्जत बड़ी चीज होती है। उसमे मन को थोडा झुकाना पडे, तो इसमे कुछ हरज तो है नही। बल्कि इसी मे गृहिणी की शोभा है। हमारी भारत की संस्कृति पारिवारिक है। इसी से वह सब तरह की परिस्थितियो के इतिहास मे मे अब तक समर्थ बनी चली आई है। परिवार मजबूत नही है तो समाज आप ही बिखरा हो जाता है।

पश्चिम का समाजवाद कुछ उनकी वहुत मदद नही कर पा रहा है। वह तो उद्योग-व्यवसाय का युग है और हमारे जैसे पिछडे देश उनके लिए मडी बनने को तैयार है तो ही वह समाज टिका हुआ है, नही तो आर्थिक एक भी धक्का वह सह नही सकता। क्योकि उन्होने व्यक्ति और समाज के प्रश्न के बीच मे परिवार को निर्बल बना दिया है। हरेक अगर अपने को माने और आजाद माने तो उस तरह परिवार की एकता कैसे रह पाएगी ? मिलजुल के चलते हैं तो इसमे कुछ झुकना भी पडता है। इस झुकने मे तो बल्कि कृतार्थता है। क्योकि प्रकृति मे एक इसान ही है कि उसको गर्दन सीधी मिली है। अब यह उसकी सस्कृति है कि स्वेच्छा से वह उसे झुकाए ··।"

सविता सुन रही थी और उपदेश उसे अच्छा नही लग रहा था। बल्कि इस परिस्थिति मे दुत्कार उसे पसन्द आ सकती थी, और समझ भी आ सकती थी। वह अब भी कुछ नही बोली।

बुजुर्ग बोलते गये, "तुम्हारे स्वसुर की तुम्हे याद दिलाऊ। कितने वडे आदमी थे। सब उन्हे आदर्श के तौर पर मानते है। मैं तो जो हू, उन्ही का बनाया हू। सच बताओ, बेटी, क्या बात है ?"

सविता अब भी कुछ नही बोली तो उन्होने हाथ बढाकर उसके सिर पर रखा और कहा, "बोलो, बेटी, बोलो।"

सविता का जी अब कुछ पसीजा। बोली, "कुछ नही।"

"ऐसा मुझे न कहो बेटी। कुललक्ष्मी के यही लक्षण हैं। घर की बात वह किसी तरह बाहर नही जाने देती है। लेकिन मुझे भी गैर मानकर बात करोगी तो कैसे होगा। कुनबे मे बड़े छोटे का लिहाज रखना हो सकता है। मेरे लिए वह बात नही है। केशव को मैं डाट-फटकार भी सकता हू। जानता हू, ऐसे मे अक्सर बीतती स्त्री पर है, दोष पुरुष का होता है। सौभाग्य की बात है कि अब तक केशव मेरा मान कुछ रखता है। वैसे बहुत हैकड है यह सच है, और मैं अनुमान कर सकता हू कि क्या कुछ तुम्हे सहना पडता होगा।···इसलिये तुम

खुलकर कह सकती हो, जो भी बात है !"

बुजुर्ग का हाथ फिर सविता के सिर पर चला गया था। वह सिर नीचा किये साडी के छोर को माथे के जरा आगे तक लाये बैठी थी और ऊपर की ओर नही देख रही थी। माथे पर उसके बडा-सा बिन्दा चमक रहा था।

सविता ने आहिस्ता से रूमाल से अपने को रोका मानो वह सुबकने के निकट आ गई हो। कोशिश से कहा, "कुछ नहीं।"

बुजुर्ग का भी जी भर आया। बोले, "इससे पहले मैंने केशव से बात कर ली है। मैंने कहा तो नही है, लेकिन अगर चाहो तो मैं उसे तुमसे माफी मागने के लिए कह सकता हू। उम्मीद है वह मेरी बात रखेगा। वैसे इतनी सी बात कि किशोर घर न आये और तुम साथ न जाओ, कौन ऐसी बहुत बडी है ? तुम्हारे बारे मे मेरे मन मे तो कभी सन्देह हो नही सकता। लेकिन कुल की आन के लिए ऐसा तुमसे आश्वासन चाहा भी जाए तो इसमे बेटी कोई बहुत बडी अपमान की बात तो है नही। मानता हू, इसमे अविश्वास है और अविश्वास मे अपमान भी थोड़ा-बहुत शामिल है ही। लेकिन अपवाद भी तो कोई चीज है। अविश्वास न भी हो तो लोकापवाद के कारण ऐसा चाहा जा सकता है। किशोर को थोडा मैं भी जानता हू। कोई ऐसा अनिवार्य आदमी तो वह है नही, तुम्हारी रुचि के योग्य भी किसी तरह नही है · "

इस स्थल पर आकर सविता एकाएक बोली, "मुझे घर मे निकाल क्यो नही दिया जाता जो ऐसे सताया जा रहा है !"

बुजुर्ग कहते-कहते झटका खाकर एकदम रुक गये। सविता का मुख ऊपर उठ आया था। आखो मे के भरे आसू अब तक पूरी तरह सूग नही पाए थे। लेकिन तो भी एक आवेश की रेख उन आखो मे दीखने लग गई थी। वह घबराये से बोले, "नही बेटी ! ऐसा अशुभ नही बोलते। कुललक्ष्मी के जाने से कही फिर कुल बचा रह जाता है क्या ? नही नही, शिव, शिव ! ऐसी बात मन मे भी कभी नहीं लाना। कौन

सता सकता है तुमको। मुझे कहो, मैं केशव को हर तरह सीधा कर सकता हू। ''बस जरा कुल की लाज की बात है। उस बारे मे बडे लोग कुछ वचन भी तुमसे चाहे, तो उसमे तुम्हारी तरफ से तो मैं कोई कठिनाई नही देखता हू।"

"वचन! कैसा वचन?"

सविता के माथे पर लाल बिन्दी समक्ष बनी बैठी थी। बिन्दी नही, बिन्दा ही कहना चाहिए। माथे का काफी भाग उसने घेर रखा था। उसका आवेश उस सुहागबिन्दु के प्रतिकूल नही मालूम हुआ। बोली, "कैसा वचन आप मुझसे चाहते है?"

बुजुर्ग ने कहा, "नही बेटी, नही। देखो, गलत नही समझा करते। तुम्हारे मान पर इसमे बीतती है, यह मैं देख रहा हू। लेकिन अगर इतने से सबको आश्वस्ति मिलती है, तो तुम्हारा उसमे क्या जाता है?"

अब उन आखो मे किसी तरह का भीगापन नही रह गया था। बल्कि सख्ती आती जा रही थी। बुजुर्ग अनुभव कर रहे थे कि कही कुछ गलत हो रहा है। लेकिन मानो बात हाथ से निकलती जा रही थी। कुछ यह भी लगा कि इस तरह अन्दर की भभक निकले तो अच्छा ही है।

सविता ने कहा, "मैं घर मे रहती हू। घर से बाहर मेरी तो पहरे-दारी नही है! जिसको चाहे बाहर से ही रोक दिया जा सकता है। मैंने उस बारे मे कुछ कहा है? लेकिन यह मैं कभी नही कर सकती कि घर के अन्दर कोई आए और मैं आतिथ्य न दू। जिसको यह घर नही चाहता है, उसको बाहर ही बाहर क्यो नही रोक दिया जाता है?"

"इसमे तुम्हारे मन पर दबाव आए, यह तो घर का कोई आदमी नही चाहता, बहू रानी।"

"फिर वे क्या चाहते हैं? रोक दें जिसे रोकना चाहते है। फिर मैं शिकायत भी करू तो कहे। लेकिन आने खुद देते हैं, चाहते हैं मुझसे कि अनादार मैं करू। यह नही हो सकता। किशोर हो कि कोई हो,

यह नही हो सकता। मैंने उन्हे नहीं बुलाया है। मैं साथ गई शुरू मे तो अपने से नही गई, भेजी गई तो गई। फिर मुझ पर क्या इल्जाम है, मालूम तो हो।"

"लेकिन सुनता हू, हठ तुम्हारी है कि अलग होगी..."

'हा है। लेकिन वह दूसरी बात है।"

"इससे उसका कोई सम्बन्ध नही है ?"

"ना! कोई सम्बन्ध नही है। बल्कि इस अपवाद के कारण तो मुझे उल्टे रुकना पड रहा है। अब तक तो मुझे कभी का अलग हो जाना चाहिए था।"

बुजुर्ग यह सुनकर दुविधा मे रह गए। उन्होने सविता को देखा। उसके चेहरे पर मलिनता नही थी, कठोरता थी। जैसे क्षमाप्रार्थना न हो, अभियोग हो। दोष स्वीकार की जगह, दोषारोपण हो।

बुजुर्ग ने कहा, "सविता बेटी! मैं समझ नही पा रहा हू, ठीक तरह से। किशोर की बात को मैं समझता था, जड मे है। लेकिन..."

"वह यही कहते थे आपसे ?"

"हा, केशव यही कहता था।"

सुनकर सविता ने कुछ नही कहा। थोडी देर मानो सोच मे एक-दम चुप बनी रही। फिर बहुत धीमे-जैसे मेरे सुनने के लिए न हो, उसने कहा, "तो ठीक है!" और कहकर ऐसी चुप हो गई कि मानो आगे किसी के लिए कुछ नही बचता है।

बुजुर्ग को भी ऐसा लगा कि बात चारो तरफ से सपाट कट चुकी है। अब सूत्र कही शेष नही रह गया है। तो भी हठात् बोले, "सविता! मुझे इतना बताओ कि किशोर को अपने जीवन से तुम बाहर मान सकती हो ?"

उत्तर मे मानो रोष मे सविता ने अपने उन हितैषी बुजुर्ग की तरफ देखा। मानो अपने को उसे रोकना पड रहा हो। उसने कहा, "अपनी जिन्दगी मे मैंने लिया नही है और बाहर करने का सवाल नही

है। कह दीजिए उनसे, कि उनका हक है कि किशोर को या किसी को अपने घर से हमेशा के लिए बाहर कर सकते है और मैं इसमे कोई नही हू, और मुझे कोई एतराज नही है। इससे आगे—मुझसे कुछ न कहा जाए, आप भी न कहे।"

"तो वह तुम्हारी जिन्दगी मे नही है ?"

सविता ने सामने बैठे उन बुजुर्ग की आखो मे देखते हुए कहा, "आपने दुवारा पूछा है। दोबारा कहती हू, नही है।"

बुजुर्ग ठिठक रहे। फिर उबर कर बोले—

"तो यह सब क्या बखेडा है ? मैं केशव से कहूगा, सबसे कहूगा कि नाहक क्यो तूफान खडा कर रखा है ! बेटी, तुम घबराओ नही, सब ठीक हो जाएगा।"

सविता ने कहा, "क्या ठीक हो जाएगा ?"

"अपवाद यह जड मूल तक न रहेगा। और तुम्हारा मान पहली की तरह प्रतिष्ठित रहेगा।"

"मेरा मान !" कहा और धीमे से वह हसी। बेहद कड़वी वह हसी थी।

बुजुर्ग के मन मे वह हसी कौधती-सी चली गई। एकाएक बोले, "क्यो बेटा, सवि ! क्या बात है ?"

"कुछ नही।"

"क्यो, मैं तुमको कहता हूँ कि किशोर की बात जो अब यह साफ हो गई है तो तुम्हारी प्रतिष्ठा कुललक्ष्मी की तरह होगी और मैं इसका जामिन बनता हू।"

सविता खिलाखिला पडी। ऐसी तीखी बेधक हसी का सामना उन बुजुर्ग को कब करना पडा था ? बोले, "क्यो, तुमको विश्वास नहीं होता ?"

"उस सबकी आवश्यकता नही है, उपाध्याय जी। मुझको तो अलग रहना है।"

बुजुर्ग को सहसा क्रोध सा आया, "तो यों कहो कि जिद तुम्हारी है ?"

सविता ने कहा, "जी हां, यही कहिये कि जिद मेरी है ।"

"लेकिन क्यों ?"

"मुझे—कुछ नहीं ।" और कहकर उसने आंखें नीची कर ली ।

उपाध्याय जी को कुछ सवान न मिल रहा था। वह मन में पूरा विश्वास लेकर चले थे । विश्वास का अधिकार भी था। कारण, परिवार के सब लोगों का उनके प्रति सम्मान का भाव था और वह निस्पृह हितैषी थे । उन्होंने केशव से बात की थी, उसकी माता से बात की थी, भाई से बात की थी और कहीं किसी तरह की अड़चन अनुभव न की थी । परिवार के सब लोग छोटे-मोटे स्खलन तक को दर गुजर करने के लिए तैयार थे । केवल आगे के लिए आश्वासन चाहते थे । किशोर का नाम लोकापवाद का कारण बन रहा था । सविता के सम्बन्ध में उपाध्याय जी को पूरा विश्वास था और वह मानते थे कि अवश्य कहीं गलतफहमी हुई है। किशोर में कोई विशिष्टता न थी । सविता परिष्कृत रुचि की महिला थी । सविता के पास आते समय उन्हें विश्वास था कि बात को सुलझते कुछ देर न लगेगी । सविता से मिलकर उन्हें विश्वास हो गया था कि किशोर की बात में ज्यादे दम नहीं है। सविता स्वाभिमानिनी है, इसलिये उखड़ सकती है। और फिर उसकी अटपिता को गलत समझा और समझाया जा सकता है। अवश्य यही बात हुई है। इसलिये यदि एक ओर से वचन पाने का आग्रह रहा है तो दूसरी ओर से वचन न देने का आग्रह बन आया है। इसी पर बस दोनों ओर से बात कसती गई है और टूटने का बिन्दु आपहुंचा है ।

लेकिन उस बात के बाद भी कुछ है, ऐसा उनको अनुमान न था । इसलिए पहले तो वह कुछ अचरज में रह गए, फिर जब उस दिशा में आगे बढ़ने की कहीं कोई राह न मिली तो उनमें आवेश हो आया । उन्होंने कहा, "जिद तो अच्छी चीज नहीं होती है, सविता बेटा !

केशव को मैं हर तरह से समझा सकता हूं। बताओ न, ऐसा क्या है ?"

"कुछ नही ।"

"फिर भी, तुम्हारा यही निश्चय है कि साथ तुम नही रह सकती ?"

"जी ।"

उपाध्याय जी सुनकर अपने मे चुप और बन्द रह गए। अब उनमे दूसरे प्रकार के विचार आने लगे। मानो प्रश्न पारिवारिक और सामाजिक न हो , वह सस्कृति से कम और प्रकृति से अधिक सम्बन्ध रखता हो। कुछ देर वह अपने मे ही सोचते रह गए। फिर एकाएक बोले, "देखना सविता, शरम न मानना। तुममे मार-पीट तो कभी नही हो जाती ?"

सविता चुप रह गई। बोली कुछ नही।

उपाध्याय जी के मन मे सहानुभूति जगी। बोले—"ऐसा हो तो भी घबराना नही चाहिए बेटा। प्यार में ही ऐसा हो पाता है। नही तो हममे मे शिष्ट कौन नहीं है, और कौन अशिष्ट शब्द तक बोल पाता है ? समझती तो हो बेटी।"

सविता चुप सुनती बैठी रह गई।

उपाध्याय जी कुछ रुके, फिर बोलते गए, "जिन सम्बन्धो मे कही कोई तीसरा नही आ सकता है, वहा फिर व्यक्ति का कुछ भी पीछे नही रह जाता है, खोटा-खरा सब कुछ सामने आ जाता है। पति-पत्नी सम्बन्ध वही परिपूर्ण सम्बन्ध है। इसमे निर्लज्जता मे भी लज्जा नही लगती है। दोनो परस्पर मुक्त हो आते हैं। एकदम नियमो से ऊपर। आदमी इसमे असभ्य बने तो भी उसे चिन्ता नही होती है। यह अधूरा नही, पूरा सम्बन्ध है। और इसलिए उसे सहारना आसान नहीं है। बडी परीक्षा का काम है। विवाह का धर्म सबसे कठिन धर्म इसीलिये है। ब्रह्मचर्य और सन्यस्त इसीलिये गृहस्थ आश्रम के मुकाबले खेल जैसे हैं। सविता बेटी, तुमको कहता हू, कि इससे बडी वैतरणी दूसरी

नही है। इसे जो तिर सका, उसके लिए फिर कोई संतरण बडा नही रह जाता है। पति-पत्नी एक दूसरे को चाहते है, यह तो सब जानते हैं। लेकिन उससे सच यह है कि वे एक दूसरे को सहारते सहते हैं। अपना निकृष्ट तो वे कही और समाज-ससार मे जाकर डाल नही सकते, सो उसका वे एक दूसरे पर फेंकने को मजबूर होते है। यह तो सविता बेटा, इस सम्बन्ध का वरदान है। इसमे घबराना नही होगा। सुनती हो न? घबरा कर उस सम्बन्ध को तोडना नही होगा। क्यो, बेटी सविता ?"

सविता चुप बनी रही।

उपाध्याय जी उस मौन के अर्थ का कुछ अनुमान न कर सके। बोले, "तो मैं अब समझू न कि सब ठीक है ?"

सविता अब भी चुप रही।

"क्यो बेटी ? इतनी आश्वस्ति मुझे नही दे सकती हो ?"

"मुझे साथ रहना नही चाहिए, यह धर्म के विरुद्ध होगा।"

"धर्म के विरुद्ध ?"

"जी।"

"मैं उपाध्याय हू। धर्म मैं भी कुछ जानता हू। विच्छेद धर्म नही है।"

सविता ने ऊपर देखा। बिन्दी भाल के बहुत भाग को घेर कर लाल लाल दमकती वहा बैठी थी। उपाध्याज जी की आखो के बिल्कुल सामने वह रक्ताकार बिंब बड़ा होता चला गया। जैसे नया उगता पूनम का चाद हो।

सविता ने कहा, "मै पत्नी हू। मुझे धर्म पत्नी होना चाहिए। उस धर्म को समझना मेरा धर्म है और मैं आपको कहती हू कि साथ रहना अधर्म होगा। मैं साथ नही रह सकती।"

उपाध्याय जी एकाएक बोले, "सविता!" उस सम्बोधन मे मानो क्या कुछ नही था।

पर सविता चुप की चुप बैठी रह गई। मानो धर्म का निर्णय हो चुका था और अब आगे कुछ शेप नही बचता था।

उपाध्याय जी ने बहुतेरा बल अन्दर से खीचा। धर्म का, नीति का सहारा लिया। चाहा कि कुछ कहे, बोले, समझाए। लेकिन सामने मानो अत्यन्त मौलिक अनुलघनीय कुछ था जिसका स्वीकार ही हो सकता था। वह क्या था कि जिसमे मैल न था, मान न था, पर सत्ता थी, सत्यता थी!

तो भी जोर लगाकर, सोचते हुए-से उपाध्याय जी बोले, "केशव मे कुछ दोप है?"

सविता नीचे देखती चुप ही रही, बोली नही।

"लज्जा न करना, बेटा! सब उपाय हो सकता है।"

सविता ने अब ऊपर देखा। स्थिर वाणी मे कहा, "आप परिवार के हितैषी हैं, पूज्य है पर पत्नी के धर्म मे पति का विचार नही है, धर्म का ही विचार है। धर्म परिवार से ऊपर होता है। माफ करें, साथ रहना न होगा।...मै जा सकती हू?"

अक्तूबर '६४

मुक्त प्रयोग

'लिबरेटेड माइंड !'

शेइलेन (शैलेन्द्र) ने ऊपर उठते हुए सिगरेट के धुएं को देखा। वह देर से सिगरेट लेकर धुएं को इसी तरह देखते हुए रेस्तरां में बैठा था, सिर्फ पानी के गिलास के बल अपने को सम्हाले रख रहा था। भीतर से वह सूना था और आसपास कई बार आकर घूमते हुए बेटर को देख कर भी उसने मीनू के शीट पर से कुछ आर्डर नहीं दिया था। पानी पीता, फिर सिगरेट पीने लगता, सिगरेट पीता और फिर पानी का सिप लेने लगता। इसी समय मालूम हुआ कि सिगरेट के धुएं के ऊपर से होकर जैसे हवाई भाप से बने बादल के खण्ड-सा कुछ उसके सामने अधर में तैर आया है। वह कुछ धुंधला है, कुछ उजला है। पहले उसे अजब लगा। फिर उसने पहचाना कि ओह, वह तो उस का अपना ही है लिबरेटेड माइंड !

शेइलेन मामूली युवक नहीं है। अवस्था तीस वर्ष की होगी। लेकिन वय से अधिक विश्वस्त है। अपनी प्रतिभा को जानता है और साधारण को नापसन्द करता है। ख्याल उस के ऊंचाइयों में रहते हैं और वह किसी तरह का बंधन या कर्तव्य आसपास पसन्द नहीं करता है।

ऊपर अधर में तैरते हुए उस लिबरेटेड माइंड को उसने कनखियों से देखा और मन ही मन कुछ कुढ़ा। उस कुढ़न में कड़वाहट थी। उसे कल की शाम याद आई, जब उसके साढ़े तेरह रुपए एक साथ खर्च हो गए थे। साढ़े बारह का बिल, एक रुपया टिप! दो उसके साथी थे और एक हजरत जो माने हुए लेखक मान लिए जाते हैं। असल में तो वह शाम उन्हीं के लिए बनाई गई थी और यहां उसने एकाएक यह

लिबरेटेड माइंड ऐसा चलाया था कि लेखक महाशय सकपकाए-से रह गए थे। तब यह शब्द उसे स्वयं गर्विष्ठ प्रतीत हुआ था। पर उस शाम के बाद आगे के लिए कुल जमा साढे सात रुपए उसके पास बचे रह गए हैं। बस यह पूंजी है, वह है, और आगे की सारी जिन्दगी है। सवेरे से उस ने एक भी पैसा खर्च नहीं किया है। दिन में खाना नहीं खाया है, पाव-प्यादे घूमा किया है, और रेस्तरां में आकर भी पानी से आगे नहीं बढ़ा है। वह कुछ हैरान है कि लिबरेटेड माइंड 'लिमिटेड पर्स' के साथ ही क्यों हुआ करता है ? यही आज की समाज-व्यवस्था के खोखलेपन का प्रमाण है। या माइंड ही तो कहीं 'लिमिटेड' नहीं रह गया है ? सम्भव है कि नीति-अनीति, पाप-पुण्य जैसी चीजें भीतर में कहीं दुबकी रह गई हों ! नहीं तो चतुराई से पैसा बराबर आते रहना चाहिए। लिबरेटेड माइंड के पास बटुआ अवश्य 'अन-लिमिटेड' चाहिए" सोच कर वह मन ही मन फीकी हंसी हंसा। लेकिन उसने संतोषपूर्वक याद किया कि कल लेखक महाशय किस प्रकार एकाएक पिटे-से रह गए थे।

सात वर्ष पहले शेड्लेन कालेज में प्राध्यापक बना था। उसकी योग्यता की धूम थी। हाल में ऊंची शादी हुई थी। लोग सराहने से अधिक उसके भाग्य पर ईर्ष्या करते थे। लेकिन जल्दी ही उसे मालूम हो गया कि यह सब सार नहीं है। दो साल के अंदर पत्नी से विलगाव हो गया। अध्यापकी छोड़ दी गई और कलम की नोक से सबको सुधारने और इस-उसको फटकारने का काम उसने शुरू कर दिया। उसे निश्चय हो गया था कि दुनिया चाबुक के ही लायक है। दुनिया ने सचमुच इसमें मजा भी लिया, लेकिन एवज में काफी पैसा नहीं दिया। परिणाम, शेड्लेन को मालूम होता चला गया कि दुनिया फरेब है, मक्कारी पर तुली है। पैसे वाले बड़े लोग ठग और बेईमान हैं। और उस श्रेणी की स्त्रियां रूप-जीवी हैं। कोई डेढ़-दो वर्ष तक उस का यह प्रयोगात्मक जीवन चला। बाद में शेड्लेन के श्वसुर ने एक स्थान के लिए सिफारिश की, तो विरोधपूर्वक शेड्लेन ने वह जगह स्वीकार कर

ली। बडी कम्पनी थी, वेतन ऊंचा था। पर शनै. शनै पुन. सिद्ध होने लगा कि आत्मा के साथ, नही-नही, अपने गर्व और गौरव के साथ, समझौता नही किया जा सकता। व्यवस्था यह मनमानी है, समाज कृत्रिम है और अधीनता किसी स्वाभिमानी को सह्य नही होनी चाहिए। यह नौबत आने के आसार प्रकट हो ही रहे थे कि पत्नी अपने पिता के पास लौट गई थी और अपने डेढ़ वर्ष के पुत्र की ओर देखते हुए, पिता की सहायता से, उसने रेडियो मे नौकरी कर ली थी। इस सुयोग के साथ शेइलेन का जीवन कुछ समय के लिए खूब उत्कट हो कर चमका था। मानो अदर की शक्तिया खुल खेलने पर तुल आई हो और वह अकेला सबका सामना ले सकता हो। कम्पनी के चेयरमैन से वह उलझ पडा और उन्हे खरी-खरी सुनाने से नही चूका। वहा से छुट्टी पा कर मानो सत्य का ही एक अवलम्ब उस ने अपने लिए रख छोडा। लिहाज-मुलाहिजे नाम की चीज को उसने सर्वथा खत्म कर दिया। उसने तय किया कि समझौते के बिना उसे रहना है। प्रण बाधा कि वह ऐसे रह कर दिखा देगा। यहा सब अकेले ही तो है। यो जिसके साथ एक कप चाय पी, वही अपना साथी है। दो पैग साथ हो गए, तब तो वह साथी अभिन्न ही हो जाता है। इस तरह नौकरी छोडने के बाद दोबारा उस ने सिद्धान्त प्रयोगमुक्त जीवन आरम्भ किया।

मानना ही पड़ता है उसकी कलम के जोर को। अंग्रेजी तो मानो उसके लिए मातृभाषा है। सब उसका सिक्का मानते हैं। पीछे चाहे जो कहे, सामने तो रास्ता ही देते चले जाते हैं। यह प्रयोगशील जीवन उसे इस बार फला नही, यह नहीं कहा जा सकता। उसकी मित्रताए, उसका परिचय, सभी वर्गों मे फैला है। सदा वह अच्छे लिबास मे देखा जाता है। खर्च मे भी हाथ खुला दीखता है। अभिजात रेस्त्राओं मे अभिजात वर्ग के साथ आप अक्सर उसे पा सकते है। इस दूसरे प्रयोगकाल की ही बात है कि दूसरा विवाह हुआ। रस्म अच्छी आई, पर विवाह टिका नही। उनकी अपनी बात माने तो पत्नी पसन्द न

थी। खैर, वे चर्चाए दब गई हैं। लेकिन जिन दिनो खूब चलती थी, तब भी शेड्लेन उस कारण किसी ओर से मद नही दीखता था। अब तो वह और जोरो पर है। बौद्धिक क्षेत्रो मे प्रवेश से भी अधिक उस का प्रभाव है। लाग उससे दबते और रोब मानते है। कारण, वह हर समय मानव-जाति के अत करण का प्रतिनिधि होकर साफ-साफ कहने को उद्यत रहता है और झूठी विनय के चक्कर मे नही पडता। परिणाम यह कि वह ख्यात होकर भी पुरुषो मे एकाकी है। प्रिय और अभ्यर्थनीय है स्त्री-वर्ग मे।

शेड्लेन ने बटुआ निकाल कर देखा, वही ठीक साढे सात रुपये थे। बटुआ बन्द कर उसने जेब मे रख लिया। टिन मे से नई सिगरेट निकाली, पहली वाली से छुला कर सुलगाई, और गहरा कश खीचा। फिर अलस आराम के साथ पहली सिगरेट को घिस कर बुझाया। अब कलाई की घडी देखी। साढे छ से दो मिनट ऊपर हुए जा रहे है। उसको झल्लाहट हुई। मानो वह अपने तिरस्कार से विश्व को तोड़ डालेगा। उसने क्रोध मे निगाह उठा कर दरवाजे की ओर देखा। देखते ही निगाह हटा ली और वह कुछ मुसकराया। उस ने अनुभव किया कि रेस्त्रा के इस बिल्कुल सूने कोने-किनारे को चुन कर उसने ठीक ही किया था।

द्वार मे से प्रवेश लेकर ठिठकी खडी युवती ने हाल मे इस-उस मेज पर चारो ओर देखा। अनेक निगाहो ने उठकर उस की ओर निहारा। लेकिन उनमे वह परिचित निगाह न दीखी, जिसकी उसे तलाश थी। अन्त मे उसका ध्यान कोने की ओर गया। अवश्य वह शेड्लेन है। लेकिन ऐसा बेभान और बेमन और अनुत्सुक! युवती तेज चाल से बढती हुई वहा पहुची। बोली—"हलो!"

शेड्लेन ने आवाज सुन कर निगाह सामने की। तनिक मुस्करा कर पहचाना और सिगरेट के रुके कश के धुए को होठो के परले किनारों से धीमे-धीमे करके छोडा, कुछ कहा नही।

युवती बोली, "यह क्या बात है ?"

"बैठो ।"

"आज यह क्या है ? बड़े ऐसे-वैसे दीख रहे हो ।"

"हां ! दावत मेरी ओर से है । है न ? लेकिन मेरे बटुए में कुल जमा साढ़े सात रुपये बचे हैं ।"

"बस ? यह कोई नई बात तो नहीं है ।"

"नई नहीं है । लेकिन कल साढ़े तेरह रुपये एक को उल्लू बनाने में लग गए । मजा तो आया । लेकिन उतनी रकम के लायक वह न था ।"

"कौन था ? तुम्हारा शिकार नामी होता है ।"

"छोड़ो, छोड़ो' 'यह लो, (मीनू सामने करते हुए) आर्डर तुम्हें देना है ।"

आगता ने मीनू के शीट पर सरसरी निगाह दौड़ाई और खासा आर्डर दे दिया । फिर बोली—"सच कहो, ऐसे कब तक रहने की सोचते हो ?"

"क्यों, इस रहने में क्या कमी है ?"

"रुपए की कमी नहीं हो जाया करती है ?"

"ओह ! रुपया तो खेल है । क्या उसकी कमी, क्या ज्यादती । और तुम जो हो ।"

"अपने ही लिए तो कहती हूं । बोलो, क्या सोचते हो ?"

"तुम जानती हो, मैं शादी का आदमी नहीं हूं ।"

"लेकिन ऐसे मैं कब तक खर्च करती जा सकती हूं ? विवाह हो तो मेरा सब तुम्हारा है । नहीं तो..."

"तुम्हारा मुझ पर खर्च करना, मैंने कहा न था, सही नहीं है । किसी आशा में ऐसा करना और भी गलत है ।"

"यह तुम कह रहे हो ? सोचो कि अब हमारे बीच बाकी क्या बचा है ! विवाह की ऊपरी विधि की ही तो बात है ।"

"इसीसे विधि की जरूरत नही रहती है।"

"मुझे कुछ हो गया तो ?"

"विवाह के बाद होता है, तव सवको खुशी होती है । विवाह के बिना और पहले हो, तो खुशी की बात क्यो नही है ? सच कहो, कुछ है ?"

"नही, नही, अभी नही ! लेकिन "

"लेकिन की फिक्र क्यो करती हो ? तुम ने तो मुझे डरा दिया !"

"तुम डरते भी हो ?"

"डरूगा नही ? तुमसे नही डरूगा ? भगवान के डर से इसीसे बच पाता हू कि तुम लोग भी हो ! (सिगरेट देते हुए) लो, पिओगी ?"

"ना, नही ! अच्छा लाओ !"

दोनो सिगरेट पीते है, और कुछ देर कोई नही बोलता । प्रकट है कि स्त्री को सिगरेट का अभ्यास बहुत कम है ।) एक कश लेती है कि फिर देर तक सिगरेट उगलियो के बीच मे ही टिकी रह जाती है, दुबारा जल्दी नही उठती । शेड्लेन 'चेन स्मोकर' है । वह जाने कहा देख रहा है । आगता ने अपनी ओर आते हुए धुए को हाथ से हटाया और शेड्लेन की निगाह अपनी तरफ खीच कर कहा—"मैने एक बात पूछी थी, तुम ने बताई नही ।"

शेड्लेन ने जरा उसे देखा और मुसकरा कर फिर निगाह उसी तरह छत की ओर उठा ली, बोला नही ।

युवती ने साग्रह कहा, "वताओगे नही ?"

शेड्लेन ने सिगरेट का अतिम भरपूर कश खीचा और उस के सिरे को ऐश-ट्रे मे कस कर रगड दिया । कहा, हम तुम क्या "सशरीर एक दूसरे के लिए काफी नही हैं ? अतरात्मा मे भी उतरने की जरूरत रह जाती है ?"

"अगर तुम कही भी और प्रेम करते हो तो मै कुछ नही कहूगी ।

शादी का सवाल नही करूंगी। लेकिन…"

"प्रमिला, प्रेम अच्छा है तो क्या एक भर के लिए ही अच्छा है ?"

"बड़े बेहया हो जी, तुम !"

"मुझ पर से दो व्याह बीत चुके और टूट चुके हैं। इस से ज्यादा और क्या तुम्हारी आंखें खोल सकता है !"

"इसी से मेरा निश्चय है कि यह व्याह होगा और नही टूटेगा। मैं सब जैसी नही हू। मेरा इम्तहान ही है यह विवाह। इसीलिए तो सामने आती हू कि मुझे भी देखना है, वह क्या है, जिसके कारण तुम इधर से उधर भागते हो। वे औरतें अनजान रही होगी। मैं…"

"तुम जानती नही हो विवाह को। वह घेरे मे बंधना है। तुम क्यों बंधना चाहती हो, मैं यही नही समझ पाता। इसीलिए कि बताने को कोई बच्चे का बाप पास बंधा हाजिर रहे !"

"देखती हू, तुम बाप बन सकते हो, रह नहीं सकते। क्यो यही न ?"

"प्रेम मे अगर प्रकृतिवश कोई पिता बन जाता है, तो इसमें समाज का क्या इजारा है ? लेकिन समाज की खातिर चाहा जाता है कि एक बाप घर के जूए मे जुता हुआ मौजूद रहे ! छोडो ··छोडो, यह सब ढकोसले हैं और तुम इस कदर खूबसूरत हो कि…"

कह कर उसने सम्मानपूर्वक आगता का हाथ उठाया और अपने सामने मेज पर रख लिया। उस पर फिर अपना हाथ रख कर दबाया, फिर दबोचा, कहा, "यू आर वन्डरफुल, प्रमिला ! (तुम विलक्षण हो प्रमिला !)"

मानो प्रमिला ने कुछ अनुभव नहीं किया। वह उसी तरह स्थिर बैठी रही।

इतने मे आर्डर का सामान लिए आता बैरा दीखा। हाथ मेज से हट गए और बातें इस घनेपन के स्तर से अलग आ गईं।

खाने-पीने के बीच मे प्रमिला ने पूछा, "तुम्हें कितने पैसे मी

जरूरत है ?"

"तुम से—ढाई सौ मासिक ।"

"यह तो तुम्हारे लिए कोई बडी रकम नही है । सुनो, कुछ काम क्यो नही कर लेते ।"

"बेवकूफ न बनो । वह नही हो सकता । जिस पाखड को ढाना है, उसी को सिर पर लू ?"

"तो फिर ?"

"देखो, प्रमिला, जानता हू तुम्हारे पास पैसा है । लेकिन तुम जा सकती हो । मै समझता था, तुम्हारे पास दिमाग है, और वह आजाद है । पैसे से ज्यादा मेरे नजदीक उसकी कीमत है । लेकिन वह चीज तुम्हारे पास नही है तो अपना पैसा लेकर यहा से रुखसत हो सकती हो ।"

"तुम ने ढाई सौ मासिक कहा । यही न ?" कह कर अजब व्यग से वह हसी, "और वह सब तुम मुझ से लोगे, क्यो ?"

"नही एक पैसा नही लूगा । इस आर्डर के सामान का भी नही ।"

"बिगडो नही · हा, एक मुझ से तुम सब चाह सकते हो । सब तुम ने लिया भी है । लेकिन "

"फिर वही विवाह—यही न ?"

"वह तो निश्चित ही है ।"

"तुम शायद रसम को विवाह मानती हो । मेरे लिए मन का विवाह असली है और उसे ही बेमन ढोने-टिकाने की जरूरत भला क्यो ।"

प्रमिला ने शेडलेन को देखा । कुछ देर जम कर देखती रही । फिर बोली—"यू आर ए चीट एण्ड ए स्काउन्ड्रल । (तुम एक धोखेबाज और आवारा आदमी हो ।)"

शेड्लेन ने सुन कर तत्काल प्रमिला की उगलियो को लिया और गर्दन नीची करके जल्दी से चूम लिया । कहा, "थैंक यू !"

प्रमिला हस पडी । बोली, "तुम्हारी यही अदाए तो···जीत जाती हैं ! बट यू आर ए लोफर आलराइट ।"

"हजूर, यह नाचीज क्या है, अपनी मालिका का खाकसार खादिम है।"

"लेकिन सुनो, व्याह से पहले अब एक पैसा नही मिलेगा।"

"कैसे नही मिलेगा प्रमिला! तुम मिलोगी तो सब कुछ मिलेगा।"

"तुम सोचते हो मैं बेवकूफ हू?"

"खुदा का खौफ करो, गजब की खूबसूरत हो!"

"हटो, तुम्हारी पैसे पर निगाह है।"

"अजी,—निगाह तो आप पर है। आपके आचल मे पैसा है, तो उसमे मेरा क्या कसूर?"

"अच्छा वादा करो, किसी और से मुहब्बत नही करोगे!"

"दोनो शादियों मे वादा किया था। वादा वही बधा रहता तो इस मुहब्बत की नौबत कैसे आती, मेरी प्रमिला! वह सब छोडो। गाडी लाई हो? चलोगी? चलो, ओखला चलें।"

"फिर वही..."

"देखो, भूखे को क्यो मारती हो? तुम्हारी कसम, सवेरे से मैंने कुछ खाया नही था। अब जरा पेट भरा है तो..."

"बडे ढीठ हो!"

"आपकी दुआ है।"

प्रमिला का परिचय पाने की आवश्यकता नही है। उस ऊंचे घराने को दिल्ली के लोग जानते हैं। कहानी मे भी परिचय देने का अवकाश नहीं है। कारण, खाना-पीना चल ही रहा था कि बीच में ही शेक्लेन झटपट मचाकर बोला, "यह सब रहने दो, उठो।"

"क्यो, ऐसी क्या घबराहट है!"

"वह कम्बख्त बुर्जुग बाहर दीख गया है, कहीं आ न धमके। जल्दी करो, नहीं तो सब मजा किरकिरा हो जाएगा। मगर गुस्सा मी तुम तो आज वह बनकर आई हो कि..."

हाथ पकड कर उठाया तो प्रमिला उठती चली आई। फिर घुमाया

गया और फिर दोनो जने हाथ मे हाथ डाले तेजी से रेस्तरा से बाहर निकल गए।

हम रेस्तरा मे ही बैठे है। यह समा और यह शाम। ओखले के लिए मौका बुरा नही है। लेकिन आप मनाइए कि कहानी कहने वाले के पास भी खासी नई ऑटोमोबाइल हो, और वह इस तेज जिन्दगी के साथ लपकता जाए और कहानी के आगे के मोडो की भी खबर आप को दे सके। तब तक के लिए कहानी को यही समाप्त मानना होगा।

●

अगस्त '६३

कष्ट

शैलेन्द्र को विस्मय हुआ जब देखा कि टेलीवीज़न के सबसे बड़े अधिकारी उसकी छोटी-सी बैठक में चले आ रहे हैं। उसको और भी विस्मय हुआ यह सुनकर कि एक बड़े महत्वपूर्ण परिसंवाद में उसे भाग लेना है और अभी साथ चलना है। अधिकारी का व्यवहार बहुत अभ्यर्थनापूर्ण था और वह कृतज्ञ थे कि शैलेन्द्र ने उनका अनुनय अस्वीकार नहीं किया है।

"असुविधा के लिए क्षमा कीजिएगा। लेकिन···"

"जी नहीं। जी नहीं···।"

"यह अनाचार है कि समय भी आपको नहीं दिया जा रहा है। लेकिन विदेश से जो मेहमान आए हैं उनकी पहले खबर न थी। वे अपने समपेशा बन्धुओं से टेलीवीज़न पर चर्चा करना पसन्द करेंगे। बताइए आपको छोड़ हम कहाँ जाएँ? इसलिए यह कष्ट है। मैं फिर क्षमाप्रार्थी हूँ।"

"जी नहीं।·· जी नहीं।"

स्टूडियो पहुँचे तो शैलेन्द्र और भी विस्मित हुआ। देश के बहुत ही नामी एक साहित्यकार वहाँ मौजूद थे। नाम और गुण दोनों से सज्जन थे जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी। शैलेन्द्र देखकर कुछ सकुचा हुआ। लेकिन तभी उन्होंने अपने से पहले आ जाना ··· अनुभव किया, लेकिन अनिश्चित शिष्टाचार से उनको सब लोगों में शामिल किया और चर्चा में सम्मिलित हो गया।

यह विस्मय न रह सका कि उसके भीतर ··· प्रतिभा ··· बैठी थी। उसने स्पष्ट अनुभव किया कि चर्चा में उसी की पकड़ ···

है। स्वय टेलीवीजन पर जिस शालीनता से उसने व्यवहार किया वह मानो दूसरो को फीका कर देता था। चर्चा काफी फैली और काफी गहरी भी गई। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज कोष उसने छुआ और मन के गहरे भेदो का भी भेद लिया। उम सब मे शैलेन्द्र ऐसा तैरता हुआ पार चला गया कि उसके साथियो को भी अचरज था।

कार्यक्रम पूरा होने पर सबको एक कमरे मे ले जाया गया जहा उपहार की व्यवस्था थी। वही उससे एक फार्म-रसीद पर दस्तखत कराया गया और दिलचस्प हल्की-फुल्की चर्चा होती रहीं। रेडियो के कुछ अन्य ऊचे अधिकारी उस समय साथ थे और वातावरण अपनी हलकी रगीनी मे उडता हुआ मानो सबको ऊचा ले जाने वाला था। शैलेन्द्र को बडा अच्छा लग रहा था। उसने घर की उदासी और निराशा को याद किया जो अब एकदम उपहास्य बन गई थी।

वह देखता था कि विदेशी अमरीकी सज्जन लम्बे और ऊचे है। रूसी बन्धु उतने ही छोटे कद के हैं। दोनो के अग्रेजी के उच्चारण भी अनमिल है। दोनो मानो शैलेन्द्र को लेकर सम होते है, नही तो परस्पर विपम बने रहते है। दृष्टिकोण दोनो के अलग, व्यक्तित्व अलग। वह बातें करता जाता था और रह-रह कर दोनो को देखता जाता था। डील-डौल के लिहाज़ से रूसी बन्धु तगड़े ढग से खा रहे थे और अमरीकी धीमे-धीमे ग्रास उठा पाते थे। देखकर उसको तटस्थ आनन्द हो रहा था और वह चाहता था कि अमरीकी विद्वान इतने गम्भीर न रहे।

फिर उसे ठीक-ठीक पता नही कि क्या हुआ। शायद वहा से उठ कर वे लोग एक-दूसरे कमरे मे ले जाए गए। शैलेन्द्र लोगो के ध्यान का केन्द्र था और विदेशी लोग अब उससे बिछुड चुके थे। पर देसियो की तो भीड थी। नाना प्रकार के नाना लोग उससे बात करना चाह रहे थे। तरह-तरह के प्रश्न होते और वह अपने उत्तरो से एक चमत्कार पैदा कर देता था। इसी समय उसके सामने एक मोटा सा लिफाफा

लाया गया। खोलने पर उसमे बिल्कुल नये दस-दस रुपये के नोटों की ऊँची-सी गड्डी थी जिसके ऊपर उसी तरह के कई पाँच-पाँच के नोट रखे हुए थे। शैलेन्द्र ने उन्हें लिफाफे से निकाल कर उसी तरह वापस लिफाफे मे रख दिया और लिफाफा वहीं मेज पर रहने दिया। वह लोगों से बात करता जाता था और लिफाफे की तरफ ध्यान नहीं देना चाहता था। फिर सहसा उसने लिफाफा लिया और नोट बाहर निकाले। वह देख रहा था कि उसके आस-पास के लोग जल्दी-जल्दी बदलते जाते हैं। शायद कमरे मे भीड़ है और दूसरो को अवसर देने के लिए थोड़ी बात-चीत करने के बाद पहले वाले हटते जाते हैं। उसने नोटों को गिना, पहले पांच वालों को, फिर दस वालो को। गिनते समय वह याद कर सकता था कि वह लोगो के प्रति असावधान तो नहीं बन रहा है। उंगलियां गिनती जाती थी और मुंह बात करता जाता था। उंगलियां गिनती चली गईं और वह दंग रह गया कि नोट कितने अधिक हैं! सौ, डेढ़ सौ, दो सौ तक की संख्या के लिए वह तैयार था। लेकिन पांच के नोटों के बाद दस के नोटों की गिनती तो पूरी ही नहीं हो रही थी। उसके कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह बात क्या है। हठात् एक ही समाधान था कि यह उसकी योग्यता का सत्कार है। वह अपनी योग्यता किसी तरह बढ़ाकर नहीं दिखाना चाहता था। वह अपने चारों ओर की भीड़ के प्रति भद्र और विनत दीखना चाहता था। नोटों की गिनती जितनी बढ़ती लोगों के प्रति उसका विनय भाव भी उतना ही बढ़ता जाता था। मालूम नहीं गिनती कितनी देर बाद पूरी हुई या पूरी हुई भी कि नहीं हुई। लेकिन राशि का अनुमान उसमें ठीक बैठ गया था। उसने फिर नोटों को वहीं छोड़ दिया और अपनी जेबों में हाथ डाला। वह जानने में ही पाया कि जेब में बहुत से कागज हैं। तरह-तरह के उनमें हाथ के लिखे हुए नोट्स थे और उसने दोनों हाथों से दोनों जेबों से उन्हें बाहर खींचा। ये नोट्स के कागज उसने सरकारी नोटों के ऊपर डाल दिए। नोट सब ढँक गए। मानो [illegible]

उन्हे अपने से ओझल चाहता था । जेब से अन्त मे रूमाल निकला और वह भी उन कागजो के ऊपर छोड दिया । अब उसने निश्चिन्त होकर कुर्सी की पीठ पर सिर पीछे किया और आराम से हो बैठा ।

मालूम नही कितनी देर यह मजलिस रही। काफी ' काफी' काफी देर तक रही । उसे किसी की चिन्ता न थी । वह सानन्द और निर्द्वन्द था । वह अपने पूरे मन मे था इसलिए सबके प्रति प्रसन्न था । उसे याद था कि कोई तिक्तता उससे नही प्रकट हुई है और वह किसी के लिए अगम नही बना है । कमरे का वातावरण प्रकाश की लहरो की तरह मानो उमडता और नया-नया रूप लेता जाता था । उसीके साथ लोग भी अदल-बदलते थे । निश्चित एक बात थी कि वह केन्द्र मे है । अन्त मे समय होता गया और मालूम हुआ कि यह स्टुडिओ है और उठकर घर जाना है । तब उसने रूमाल समेत सब कागजो का ढेर उठाकर दाहिनी जेब मे ठूस लिया । सब कुछ गडमड था और उसे चिन्ता न थी । उसने देखा कि उसके साथ आस-पास के लोग उठ खडे हुए थे । सब कृतार्थ दीखते थे और यह अपना सम्मान उसे विशद किए जा रहा था । सब कही आनन्द का भाव था और परस्पर मे विदा लेकर मानो कृतज्ञ वे अपनी-अपनी राह चले जाने को उद्यत थे । किंतु तभी मानो नितात उदासीनता मे, एक बार फिर शैलेन्द्र अपनी आराम कुर्सी मे हो बैठा और जेब मे ठुसे हुए कागज उसने बाहर किए । लोग अब लगभग जा चुके थे । सब ढेर कागजो का उसने मेज पर पटक दिया और फिर एक-एक को हटा कर उनमे सरकारी सिक्के के नोट देखने लगा । यह क्या ? नोट तो वे कही थे नही ! उसने सब कागजो को उलटा-पलटा । एक-एक कोर दबा कर और फैलाकर देखा । लेकिन करारे कागज वाले वे पाच-पाच और दस-दस रुपये के नोट गायब थे । उनमे से एक भी कही नही मिल रहा था । उसने फिर जल्दी-जल्दी कागजो को देखा । जेबो को टटोला । कोट उतारा, पैंट खखोला, पर नोट हाथ नही आए । उसने अपने चारो ओर देखा । लोग अब जा चुके थे । रोशनी थी लेकिन धुन्धली मालूम

होती थी। उसकी कुछ समझ न आया। उसे निश्चय था कि किसी ने उन नोटों को ले लिया है और फिर चुपचाप सरक गया है। कौन हो सकता है? क्या वह?··· क्या यह?··· या वह?··· अनेक-अनेक चेहरे भीड़ में से उसे याद आते थे। और प्रकट होने देर न होती कि वे सब के सब उसको खोते भी चले जाते थे। उसने उन सभी को और उनमें एक-एक को दोषी पाया। लेकिन क्या हो सकता था! अन्त में बालों में उँगलियाँ डाल कर दोनों हथेलियों के बीच उसने दोनों कनपटियों को लिया और सिर थाम लिया। देखते-देखते वह सिर नीचे झुक आया।

*   *   *

कुछ गुनगुनों की आवाज़ प्रतिमा ने सुनी। अँधेरा था और उठ कर उसने बत्ती जलाई। तब मालूम हुआ कि उसका पति सोते-सोते गुनगुना रहा है। उसने पैर का अँगूठा धीमे से हिलाते हुए कहा, "सुनो!" "अजी सुनो!"

पति ने चौंक कर आँख खोली। मानो वह आँख कुछ पहचान न सकी। हक्का-बक्का सा वह देख उठा और निरर्थक भाव से बोला, "दादा?"

पत्नी ने पूछा, "क्यों, क्या बात है?"

पति ने आँख फाड़ कर कहा, "क्या?"

"अ-अ, कुछ नहीं। शायद सपना देख रहे थे।"

"सपना!" कह कर एक क्षण वह रुका, फिर बोला, "नहीं बिल्कुल नहीं।"

"न सही। जाने दो। पर हुआ क्या?"

"रुपये सब चले गए।"

"रुपये!···कैसे रुपये?"

"बहुत थे। ढेर, सौ, चार हजार थे! ढेरों नोटों के रुपये!"

"क्या कह रहे हो?"

"सच कह रहा हूँ।"

इतना कहा और पति महाशय माथे को हाथ मे लेकर रुआसे हो आए।

प्रतिमा ने उनके सिर को लेकर अपने वक्ष मे समेटा। कहा, "कुछ नही। सपना था। सो जाओ।"

"नही, नही। सपना नही था।"

"तुम क्यो फिकर करते हो ?"

"सच कहता हू। मैने गिने थे। एक-एक कर गिने थे। एकदम नए नोट थे और पूरे ढाई हजार थे।"

"सुनो, अब नही कहूगी। मरे रुपये का मुझे क्या करना है। तुम फिकर न करो। फिकर-फिकर मे जाने क्या-क्या देख जाते हो ?"

"तुम्हे यकीन नही आता है ?"

कहता हुआ पति पत्नी की गोद मे से छिनकर अलग हो बैठा।

प्रतिमा ने उसे ऐसे देखा जैसे आखो मे निरी ओस हो। गिड-गिडाती बोली, "नही। अब नही कहूगी। मेरे मारे ही तो फिकर है।"

पति ने उठाकर एक जोर का चपत पत्नी के गालो पर जड दिया। चिल्लाया, "फिकर है तेरा सिर। मैं झूठ बोलता हू ?"

पत्नी आख फाडे अपने देवता स्वरूप पति को देखती रही।

"यकीन नही आता न ? और मैं झूठ बोलता हू, क्यो ?"

यह कह कर उसने भी जोर से अपने गालो पर उसने चपत जमा लिया फिर तो तडातड वह अपने को पीटने लगा। कहता जाता था, "मैं झूठा हू, कमाता हू तब भी झूठा · झूठा है साले, तू मर।"

पत्नी ने पति के उठते हुए दोनो हाथो को जोर से पकड कर बर जोरी अपने वक्ष के नीचे दबा लिया। कहा, "मुझे माफ करो। माफ करो। अब कभी नही कहूगी।"

पति मे जाने कितना जोर आ गया। हाथ खीचकर उठ खडा हुआ बोला, "मै झूठा हू न ? रुपये नही मिले और किसी ने नही चुराए—

यही न ? मैं निकम्मा हूं । नालायक हूं, और तू सहती है । यही न ?"

"नहीं, नहीं, नहीं !..."

"मैंने नोट नहीं दिये, यही न ? मैं झूठा हूं और तेरे लायक नहीं हूं, यही न ?"

अनिमा उठकर उनके चरणों में लिपट गई । बोली, "नहीं, नहीं ! थे, सब थे । किसी ने चुरा लिए । अब तुम सो जाओ ।"

चरणों में पड़ी पत्नी को जोर से लात मारकर उसने दूर फेंक दिया । कहा, "मैं झूठा नहीं हूं, कमबख्त जैनेन्द्र हूं । और तू समझती है क्या ?"

रात गहरी थी और जैनेन्द्र में खून उतर आया था और—

* * *

नागन, तब से जैनेन्द्र का मस्तिष्क स्वस्थ नहीं है । यहीं जैनेन्द्र कि जिसकी ख्याति भी है ।

अक्तूबर '६१

बेकार

"हुक्म आया है कहानी भेजो। बताओ क्या करू?"

"भेज दो कहानी।"

"क्या भेज दू? कहा से भेज दू? मन ही किसी काम को नही होता है।"

"क्यो? ऐसा तुम्हारे मन पर क्या आ बीता है? मुझे देखो, सारी चिन्ता मुझ पर है। तुम्हे क्या फिकर कि क्या चीज क्या भाव आती है, बच्चो के लिए दूध कैसे जुटता है। तुमको तो पडे रहना और सोचते रहना है। इस पर कहते हो, मन नही करता। अच्छा तुम्हारा मन है। उठो, और लिखो कहानी। नही तो वे लोग भी क्या कहेगे?"

अब कैसे बताऊ इनको जो चूल्हे-चौके मे रहती हैं, बासन-बुहारी मे रहती है। ना तो रिश्तो वाले लेन-देन मे रहती हैं कि ख्रुश्चेव पर क्या बीती, कि चीन के अणुबम विस्फोट का क्या मतलब है, कि बर्तानिया की सरकार पलट कर एकदम दूसरी बन गई है। वगैरह-वगैरह बातें हैं जो असली हैं और मेरे दिल पर बैठी हुई है। उन बातो के बोझ से अगर वह दिल उठता ही नही है तो इसमे उस दिल की ओर कायल ही होना चाहिए। मै अपने बारे मे बिल्कुल विश्वस्त हू कि मेरा दिमाग दूर तक जाता है और बारीक बातो को पकडता है, और हर छोटी-मोटी ले-दे से ऊपर रहता है।

"फिर वही! अभी बैठे ही हो! मशीन लेकर टाइपिस्ट कमरे मे बैठा इन्तजार कर रहा है। वहा कहानी की राह देखी जा रही होगी। विशेषाक दीवाली तक निकल जाने वाला है। उधर रेडियो पर उपन्यास भी जाना है। और तुम ऐसे मुक्त बने हुए बैठे हो कि जैसे सब कर

हो। मेरी सुनते ही नहीं हो। कहती हूं कि मैं माघ नहीं जाने दूंगी। पहले माघ में ब्याह जरूर हो जाना चाहिए। पिछले में ब्याह में हमने पच्चीस हजार लगाया था, इतना तो वे कर देंगे न ?"

"कहां का झमेला ले बैठी हो ? चलता हूं, मुझे कहानी भेजना है।"

"बस, तुम्हें तो कहानी उपन्यास की लगी है, बेटे-बेटियों की फिकर नहीं ! घर में बहू आती तो कुछ तो संभालती ? सारा बोझ बस मेरे सिर। तुम्हें पता है, दिन-रात पिसती तो मैं हूं, वह विमल पन्द्रह रोज से बीमार है, तुमने कुछ किया ? कहा था, आदमी को भेज के बुला लो, यहां अच्छे डाक्टर हैं, ठीक तफतीश हो जाएगी। पर तुम्हें उपन्यास से फुरसत मिले तब न ? कोई और होता तो अब तक घर में पोते-बच्चे दिखाई देते। तुमको लगे जाते हो अपने दफ्तर और सब अपने-अपने काम में। पर वह घर भूत-सा लगने को आता है जिसमें बाल-गोपाल न हों। पर क्या, उसे बीमारी कहो। रमा की उमर पच्चीस के ऊपर हो गई। काम से भी लगा हुआ है, अब तक घर भरा-पूरा होता। पर तुम ऐसे हो कि फिकर कहानी की तो है, और किसी बात की नहीं है।"

बात यह है कि निगलना-निकालना मुझे भी मुसीबत मालूम होती है। जब तक टल सके अच्छा है। लेकिन मैंने गुस्सा दिखाते हुए कहा—"तो क्या कहती हो, मुझे करने को ? कहो, सब काम-काज पीछे, तुम पहले।"

श्रीमती अपनी जगह से उठीं कि रुको जरा, मैं अभी आती हूं। और सचमुच थोड़ी ही देर में बाहिर आ कर दोनों हाथों को ऊपर टेककर, जल्दी आकर दीवान पर बैठती हुई बोलीं, "अब कहो !"

"कहां गई थी ?"

"कुछ नहीं।"

"देखो, यहां पीछे लोगी रहेगी, पांच मिनट में मुझे छुट्टी दे दो। कहानी जल्दी जानी है।

"उसकी अब फिकर नही है—हा, क्या कहते थे, दो बहने है और · ।"

"मैने छोटे बाबू को फोटो के लिए कह दिया है, ठीक हुआ तो बाकी विचार पीछे होगा ।"

"फोटो से कही ठीक पता चलता है ? यही पडोस की बात है, फोटो से कैसी सुन्दर लगी थी, पर बहू आई तो ऐसी कि· ·। जाके तुम देख आते तो कैसा ?"

"किसे देख आता ? बात न बात, बेबात की बात । मुझे अब जाने दो ।"

"बम्बई मे है लडकी ? धारीवाल साहब को फोन कर दें कि देख के पता दे ! शाम तक उनका फोन आ सकता है । इन बातो मे देखो, देर नही किया करते । और तुम हो कि एक काहिल हो । लो, धारीवाल को मिलाओ फोन ।"

"क्यो, तुम्हे कोई और काम नही है कि· · ·।"

"तो मै मिलाती हू, धारीवाल को । बताना क्या नम्बर है ?" तुम्हारी डायरी मे होगा न ? अर्जेन्ट किये देती हू बम्बई की लडकी का पता तो है न तुम्हारे पास ।"

"नही है ।"

"नही है ? बस तुमसे हो लिया कुछ । पता भी नही पूछा छोटे बाबू से ! अरे ऐसे घर-गृहस्थी के काम नही हुआ करते । लो अब पूछ लो। पूछ के, फौरन धारीवाल को कहो कि सब देख-भाल के शाम तक वापस फोन पर खबर करे । आज क्या है, तीज और असौज का महीना । कातिक मे मजे मे व्याह हो सकता है, जोग भी है । तुम्हारे पास कितने की तैयारी है ? ज्यादे फिक्र की बात नहीं, जेवर के लिए मेरे पास से हो जाएगा । काफी तो पुराना पडा ही है । कल ही सुना के उसे नया करने के लिए कह दूगी । वह फिकर मुझ पर । ऊपर की तैयारी के लिए तुम्हें चिन्ता होती हो तो मैं राधे बाबू से कह सकती हू । तजुर्बेकार हैं

और बहुतों के काम उन्होंने किए हैं। उन्हें फ़ोन से हम एकदम निश्चिन्त हो सकते हैं।"

मैं अपनी जगह से उठा। श्रीमती बोलीं, "तुम तो अभी से फ़िक्र में आने लगे। मैं कहती हूं, मेरे रहते तुम्हें जरा चिन्ता करने की जरूरत नहीं। चेक तो तुम्हारे पास हो जाएगा न ?"

"क्या ये बड़बड़ मचा रखी है। तुम्हें नहीं तो मुझे तो काम है!"

श्रीमती उठीं और टेलीफोन लाकर मेरे हाथों में थमा दिया। कहा, "लो छोटे बाबू से पता पूछ लो।"

हाथों से मैं टेलीफोन को फेंक नहीं गया। धीमे से बराबर की तिपाई पर रखा और कहा, "बम्बई का पता है जी।"

श्रीमती जी उछलकर बोलीं, "तो फिर क्या बात है, श्री भार्गव को मिलाओ। कह देना, काम को अपना समझ कर करें और एकदम अर्जेन्ट समझ कर। और काम की सब बात भी पूरी तरह फोन पर दें? समझे। क्या कहोगे ?"

मैं भी और आगे न देख, टेलीफोन से बचा, वहीं फिर बैठ गया था। लेकिन यह सब बेकार हो रहा था। मैंने कहा, "थोड़ा सा ज्ञान लो, कभी भी देख लो। तब उसकी राय से आगे जो जरूरी होगा किया जाएगा। उतावली से कुछ नहीं होता है, उलटे काम बिगड़ता है।'

"तुम्हें उतावली है! और नदी को छत्तीस बरस का कर दिया, यो तुम्हारा धीरज है!! नाक में दम कर रखा है। लो, करो भार्गव को फोन।"

छोटे बाब के हाथ मे रहने दो। वह बीच मे है तो उन्ही का जरिया ठीक है। सब तरफ से मुनासिब हो, तभी हममे मे किसी का बढना सही होगा। उससे पहले नही।"

"क्या तुमने किया है अब तक कोई रिश्ता या टेला—जो अपनी अक्लमन्दी लगा रहे हो ? ये काम ऐसे नही होते। मुझे बताओ, धारीवाल का नम्बर क्या है ?"

"मुझे नही मालूम।" कहकर मै तीर की मानिन्द वहा से चलता हुआ बाहर के कमरे मे आ गया। पर कमरा खाली था। वहा कोई गोविन्द न था।

लौटकर आया तो श्रीमती जी सचमुच नम्बर के लिए डायरी टटोल रही थी। मैने कहा, "बाहर कमरे मे कोई नही है। टाइपिस्ट क्या हुआ ?"

श्रीमती जी डायरी टटोल रही थी और टटोलती रही।

"तुमने टाइपिस्ट को कुछ कहा था ?"

मालूम होता है कि धारीवाल का नम्बर मिलने मे समय लिये ही जा रहा था।

"सुनती हो, कुछ कहा था ?"

श्रीमती जी ने डायरी मे हटाकर अब मुह मेरी ओर किया। कहा—"हा, कहा था। तुम्हे तो अपनी तन्दुरुस्ती की फिकर है नही, खासी तब की अब तक चल रही है। आराम को तुमने हराम मान रखा है। ऐसा भी क्या काम ? जब देखो तब लिखाई। लिखाई जाय भाड मे, सबसे पहले तन्दुरुस्ती है..."

मैने जोर से कहा, "क्या कहा था उस टाइपिस्ट को ?"

"कहा था, भाई आज जाओ, उनकी तबीयत ठीक नहीं है। आज लिखाना नहीं होगा।"

"तुमने यह कहा था ?"

"हा। और अब तुम आराम करो। धारीवाल का फोन भी बाद

मे हो जाएगा। ऐसी कोई तबाही नही है । तन्दुरुस्ती है तो दुनिया है और सब काम वकत पर हो सकते है। लो, आओ यहा लेट जाओ।"

टाइपिस्ट चला ही गया था और आराम मे लेटे रहना मुझे कभी बुरा नही मालूम होता है!

अक्तूबर '६४

झमेला

जगह पाने मे समय लग रहा था और मैं बार-बार घडी देखता और झुंझलाता था। पाच कहा गया था और अब उसने पाच मिनट ऊपर हो गया था। एक-दो मिनट और निकल गए तो अनुमान से एक द्वार मैंने ठेलकर खोला। वहा साइन बोर्ड नही था और मैं शका मे था। दरवाजा खोलने पर अन्दर अन्धेरा दिखाई दिया। थोडी देर मे मालूम हुआ कि एक मद्धम वत्ती है और वाहर के प्रकाश से आने के कारण ही अन्धेरा इतना घुप्प दीखा था। मैंने आखें मली और कमरे को भेद कर देखने लगा। कमरा लम्बा था और शुरू मे कुछ दिखाई न दिया। फिर दूर परले किनारे से एक सूरत इसी तरफ बढती मालूम हुई। क्या वही सुधी है? पहचाना नही जाता था और चाल उस जैसी न थी। तभी मालूम हुआ कि पीछे एक और व्यक्ति भी है जो कद मे ऊचा, पूरा और विश्वस्त मालूम होता है। कौन हो सकता है? यह सोच न पाया था कि सुषमा की आकृति मुझे पहचान मे आ गई। मैं तेजी से आगे बढा और दूसरी ओर से मानो सुषमा झपटती हुई मुझमे आ गिरी। बोली—"राजेश!"

मैं मग्न रह गया। सुषमा जो थी उसने अब आधी भी नही थी। सूरत पर से सब उजड गया था। वाल बिखरे थे और सब बिखरा था। आखें फीकी, खोई, बदहवास थी।

यह सब अभी ध्यान में न ला पाया था कि सुषमा अलग हो गई। साथ के व्यक्ति पास आ चुके थे। सुषमा ने परिचय कराया और उन्होंने कहा, "अच्छा, अब मैं जा सकता हू?"

सुषमा ने हाथ जोड दिए। व्यक्ति ने मेरी ओर हाथ बढाया और

विदा लेकर वह तभी चले गए ।

मैंने निगाह घुमाकर अब जगह देखी। मोमबत्ती से भी धीमी एक लाइट जल रही थी। अच्छा मालूम हुआ। मानो दिन न हो, न रात हो। एक धुधलका हो और सब सपना हो। उस सुती सक्षिप्त देह को कधे से लिया और मानो पूछते हुए मैंने कहा—"सुषी ?"

"मैं इन्ही के यहा हू। नही,—थी !"

उत्तर का मर्म न मिल सका। वह सफाई थी कि चुनौती ? हम चलते हुए एक मेज के किनारे आ गए। उसके गिर्द घूम कर सुषमा एक कुर्सी की ओर बढी और बैठने को थी कि मैंने दोनो कधो से उसे पकड कर सामने लिया। फिर एक हाथ से ठोढी उठाते हुए कहा—"यह क्या कर लिया है तैंने ?"

उसकी आखें तिर आई थी और वह कुछ बोल नही सकी।

कधे पर दबाव देकर उसे बिठाया और मैं आप भी कुर्सी पर हो बैठा। मुझे सूझता नही था कि क्या कहू ? क्या पूछू ? वह भी चुप थी।

मैंने उसकी चिट्ठी का जवाब नही दिया था। मुझमें गुस्सा था। मैं देश से बाहर गया कि यह सब घटना घट गयी थी। पीछे हिसाब लगाकर देखा कि मेरे विदेश जाने से दो दिन पहले की घटना थी। इसी पर मेरे मन मे क्रोध था। इतनी बडी बात होने वाली हो और मुझे मालूम न हो। इस पर मैं किसी तरह सुषमा को क्षमा नही कर पाता था। बहुत सोचता था कि हो सकता है कि वह समझती हो मैं विदेश के लिए निकल गया हू। आखिर फोन की दो-एक तिथिया बदली तो थी ही। इस तरह नाना तर्क उसके पक्ष मे करता, लेकिन मन किसी में सतोष न पाता था। विदेश से लौटते ही मैंने फोन किया, फिर फोन किया। कोई उत्तर न आया। फिर फोन किया तो किसी ने उठाया और नाम लेते ही खट से बन्द कर दिया। मैं व्यग्र था और इस बात पर और भी नाराज कि मुझे खुद खोज-तलाश पर उसके बारे मे पता

लगाना होगा।'''इसके काफी दिनो वाद उसका पत्र मिला था। पत्र मानो मेरे हाथ मे आकर गिडगिडा आया था। लेकिन मन का क्रोध उससे और उभरता ही गया। मैंने मन मे कहा—'मर कम्बख्त। मुझे क्या है ?'

लेकिन सच कहता हू कि कितना ही मैने मन को समझाया कि मुझे क्या, लेकिन मुझे ही चैन नही था। क्या हुआ होगा ? जन-प्रदवाद ने क्या हाल किया होगा ? क्या उसके मन पर वीत रही होगी ? क्या आस-पास का व्यवहार होगा ? सव प्रश्न मन मे उठते थे और सवके उत्तर मे एक घोर अन्धेरा ही हाथ आने को रह जाता था और मैं और भी क्रोध से भर आता था। सोचता था—चलू, एक वार उस शहर मे जाकर देख ही आऊ। लेकिन जाने कौन मुझे रोक देता था और मालूम होता था कि ऐसा होना असम्भव है।

यही महीने भर पहले की वात है। तव से उसके नाम पर सिवा कष्ट के मैंने कुछ नही भोगा। वेचैनी के हाथ कही कुछ विन्दु भी आता तो उसको मसल कर अपने को कुछ हल्का भी किया जा सकता था। लेकिन खत का जवाव मैंने नही दिया। न फिर कोई खैर-खवर आई। इस सुन्न सन्नाटे पर कोई क्या कर सकता था ? लानत-मलामत, फट-कार-दुतकार किस पर डाल सकता था ?

कि आज फोन मिला। पूछा, क्या पाच वजे मैं आ सकता हू ? आवाज काप रही थी, गला भरा हुआ था। लेकिन उसके इस 'क्या' पर मे झुंझला आया। "क्या मै आ सकता हू ?" क्यो, वह कमवख्त जानती नही कि दुनिया के सव काम छोडकर मुझे जाना होगा, 'क्या' का सवाल नही है ! फिर भी वह उसका 'क्या' मुझे अन्दर तक चीर गया। मानो उसने अपना विश्वास खो दिया हो, मेरा विश्वास खो दिया हो। दुनिया मे कही उसके लिए किसी विश्वास का ठिकाना न रह गया हो। मैंने कहा था "कौन सुधी ? तू अभी है ?"

"हा, हू।"

"मरी नहीं ?"

"नहीं। अभी नहीं मरी।"

"मैं क्यों आऊं ?"

"मारने भी नहीं आ सकते ? उसी के लिए आ जाओ। दया करो।"

इस बात का मैं सहसा उत्तर नहीं कोई बना सका और फोन कान पर लिए चुप रह गया।

"राजेश ?"

वाणी मानो भीतर पानी से भरी कांप रही थी और मुझमें मान चढ़ता जाता था।

"राजेश ? ··राजेश ! सुनते नहीं हो ? मैं मर रही हूं।" आके देखोगे नहीं कि मैं मर रही हूं ?"

मैंने जोर से टेलीफोन वहीं दे मारा और इस पांच बजे तक इंतजार करता रहा।

शायद उसे आशा नहीं थी। शायद उसे आशा थी। मन कहता था कि वह जानती है कि कुछ और मेरे लिए सम्भव नहीं है। जाए बिना मुझ से रहा नहीं जा सकेगा। और सचमुच ही मैं विस्मित नहीं हुआ जब देखा कि मेरे आते ही उसके साथ के सज्जन विदा ले गए हैं। सुषमा को मैं जानता हूं। हीरे की कनी-सी वह कठोर हो सकती है और काट कर सकती है।

"बम्बई से कब आई ?"

"सात रोज हुए !"

"सात रोज ?" ··और मेरा गुस्सा फिर मुझमें चढ़ने लगा।

"आज भी मजबूर होकर तुम्हें याद किया है।"

"न करती आज तो क्या बुरा था ?"

"अच्छा ही था। लेकिन हो नहीं सका। ··राजेश, ये क्या हो जाता है ? जिन्दगी क्या है ? दुनिया क्या है ? प्यार क्या फितूर है ?"

"क्या मगाऊ ? काफी, चाय ?"

"ऊँह, छोडो।...सच, राजेश। प्यार क्या है ? घोखा है ?"

"जाके कहता हू, कि जल्दी करे।"

"नही, बैठो। आता होगा। क्यो, मुझे सह नही सकते हो ?"

"नही सह सकता। शकल तो देखो! और यह लिबास! वाह! क्या कहने है! बम्बई मे यही सीखा है ?"

"तुम विलायत मे क्यो जा बैठे थे ?"

"बको मत! मेरे जाने से पहले तुम यह कर चुकी थी!"

"कौन कहता है ?"

"मै कहता हू। तुमने फोन किया था ? पूछा था ? अब बात बनाती हो!"

"सच, तुम तेरह को नही चले गये थे ?"

"नही, सत्रह को गया था!"

सुनकर उसके मुह से लम्बा सास निकला। जैसे गहरी हाय हो। फिर बोली, "छोडो राजेश। अब कहो, तुम्हारे पास आ जाऊ ?"

राजेश ने उस अन्धेरे उजाले मे सुषी के चेहरे को भरपूर देखा। प्रश्न मे पारदर्शी ईमानदारी थी। बोला—"सुषमा! तू बक तो नही रही ?"

"नही, बक नही रही, तुम जानते हो।"

"अब कहा हो ?"

"घर आ गई हू। एक पाँव इनके यहा भी है जो अभी गये है!"

"सातो रोज यही थी ?"

"हा।"

"घर आज गई हो ?"

"हा।"

"स्वागत मिला ?"

"नही, कोई मुझसे नही बोला।"

"खुद गई थी ?"

"वही आकर ले गए थे, मैंने फोन किया था।"

राजेश पीडा से भर आया। बोला—"सुषमा !"

"तुम जानते तो हो राजेश ! मरना इससे आसान होता है !"

"उन्होने कुछ नही कहा ?"

"कुछ भी नही कहा !"

"क्या बात है ? पत्थर तो है नही वह।"

"मैंने पत्थर कर दिया है, इतना कि अब वह मुझ पर डाट-डपट भी खर्चना फिजूल समझते हैं।"

"उनको तो हक है। और नही तो सख्ती ही करें।"

"सब हक तर्क कर दिया है उन्होने। मै नरक मे जाऊ, या पाप में पड़ू। लेकिन, उनकी परवरिश की छत मेरे लिए हमेशा खुली है। यही है राजेश, जो मै नही सह सकती।…नही सह सकती।…नहीं सह सकती।… ये कृपा… ये दया…ये भीख… बताओ राजेश क्या करूं ?"

"वही रहो।"

"राजेश !"

"हां, वही रहो।"

"तुम कुछ नही कर सकते ?"

"नही कर सकता।"

"राजेश ! तुम सख्त क्यों बनते हो ? तुम वह हो नहीं। तुम्हारे पास सब है। जरा चाहो तो सब कर सकते हो। मेरे लिए एक कोठरी बहुत है। तुम्हें कैसे बताऊ कि घर मुझे हर घड़ी पीसता रहता है। उनकी परवरिश के मैं लायक नही हूं। तुम्हें क्या बताऊं कि वहां मेरा अब भी आदर होता है ! सब मेरी फिक्र करते है। मुझसे कुछ नही कहते और मेरी हर ख्वाहिश, हर जरूरत का ख्याल रखते हैं। राजेश, मुझे उबार लो। मुझे वहां ऐसे रखा जाता है जैसे अस्पताल हो, और मै मरीज हूं। राजेश, मैंने जो किया सब भुगतने को तैयार हूं। खुशी से तैयार हूं मेरे

मन मे अब भी नही है कि किए पर लौटूं। पछतावा मन मे नही है। प्यार को व्याह से बडा समझा, इसको क्या मैं गलती मान सकती हू? लेकिन, मुझे उबार लो राजेश?"

"उन्होने तो व्याह को बड़ा मानने को तुमसे नही कहा न?"

"ना!...नही कहा!"

"फिर?"

"राजेश! तुमको क्या हुआ है। सोचो कि मैं कैसे सह सकती हू? दस महीने पूरे हो गए, मैं खुलकर उनके साथ रही और घर की तरफ नही देखा। अब दस महीने बाद घर की शरण लेती हू और कोई कुछ नही कहना, तो क्या यह मुझे काटेगा नही?"

"मत शरण लो।"

"कहती तो हू, कुछ इन्तज़ाम कर दो।"

राजेश अपने बावजूद अन्दर मे कसता आ रहा था। उसने कहा—

"ठीक है। एक मुनासिब कमरा डेढ सौ से दो सौ रुपये माहवार किराये मे हो सकेगा। तलाश करूं?"

"राजेश!" सुषमा ने दबी चीख मे कहा—"तुम चले जाओ यहा से!"

"काफी न पीने दोगी? लो, वह ले भी आया।"

बैरा सब सामान मेज पर रख गया। सुषमा सुन्न बैठी रही और राजेश ने प्याला बनाकर सुषमा को पेश किया। सुषमा ने चुपचाप सासर को हाथ मे ले लिया और फिर राजेश ने अपना कप बनाया और धीरे से सिप् किया। साथ ही सैंडविच के प्लेट को उसने सुषमा की तरफ सरकाया। कुछ देर कोई कुछ नही बोला। अन्त मे राजेश ने कहा—"क्यो, बनाया नही?"

सुषमा मानो आसुओ मे से हसी। बोली—"मेरे पास बहुत पैसा है। बहुत...बहुत...बहुत पैसा है! जानते हो औरतो के पास पैसा कैसे आ जाता है? कमाते मर्द हैं, आ जाता औरतो के पास है। सिर्फ इस

खूबी से कि वे औरत हैं ! क्यों, मुझमें क्या अब कुछ बाकी नहीं रहा जो पैसे की बात करते हो ?"

"बाकी होगा, इसीलिए शायद चुपचाप पति ने अपना घर फिर तुम्हें पेश कर दिया !—है न ?"

"राजेश, निकल जाओ यहां से। मैं बेवकूफ थी जो तुम्हें बुलाया !"

"हां, बेवकूफ थी। और इससे पहले भी जो की बेवकूफी की। तुम प्यार करती हो, मैं बेवकूफी कहता हूं। सुषमा, इसीलिए आया हूं कि तुम समझ जाओ कि बेवकूफी क्या होती है !"

"तुम प्यार को बेवकूफी कहते हो, तुम ? अभी तक तुम्हीं न थे कि मुझे समझाते थे कि वही एक सत्य है, वही परम सत्य है। परमेश्वर उससे दूसरा नहीं है। और अब ये क्या कहने लगे ?"

राजेश ने कड़वा बनकर कहा—"कह ये रहा हूं कि दो सौ रुपये में एक ठीक कमरा हो सकता है। उस हिसाब से पांच-छः सौ रुपया ऊपर का और खर्च समझ लो। सात सौ रुपया माहवार तुम कितने महीने तक चाहती हो मैं तुम्हें उधार देता रहूं ?"

सुषमा व्यथा और वेदना से भरे स्वर से बोली—"राजेश !"

"शायद सामयिक पतित्व मुझे एवज में देने की बात तुम्हारे मन में हो। तब अवश्य उधार उधार नहीं रह जाता। क्यों, यह बात है ?"

"राजेश, मैं कह चुकी हूं कि तुम चले जाओ यहां से !"

"—नहीं। वह मुझे मंजूर नहीं है। वह महंगा सौदा होगा। इससे तो सस्ता प्यार होता है। प्यार में सब मुफ्त मिल जाता है ! क्या वह तुम्हारे पास है, या मेरे पास है, जो दिया जा सके ? मुझे तुम वह मानती हो जो प्यार को परमेश्वर कहता है। मैं अब भी उसे परमेश्वर कहता हूं। तब प्यार हमारा कहां है, परमेश्वर का है और उसमें सौदा नहीं हो सकता।" सुनो सुषमा, बहको मत, और बहकाओ मत ! ये ठीक है कि कमाता मर्द है, खर्चती औरत है। पैसे पर अधिकार, सौदा मानती और भोगती है, मर्द तो कमाने और खनिकाने भर का हक-

दार है। मर्द की इसी कमजोरी को अगर औरत अपनी ताकत समझे जाएगी तो वह पागल होगी। तब जानती हो, पति उसका मालिक बनेगा और साथी नही बन सकेगा। पति मालिक का और पत्नी माल मालिकी का नाम होगा और उसका बन्धन अन्तिम होगा। तुम्हे नही मालूम कि जिस भाषा मे सोच रही हो वह प्रेम की नही, अर्थ की है। इसीलिए तुमसे कह रहा हू कि पति के घर की शरण ली है तो वही रहो और वही ठीक है। उसमे तुम पिस जाओ, मर जाओ, तो भी गलत नही होगा। क्योकि···क्योकि ·बताओ, जो प्यार था वह प्यार निकला ? फिर वह उड कैसे गया ?· ·मैने तुमसे पूछा नही है ··सुषमा, माफ करना। सच बताओ, क्या हुआ ?"

'तुम क्या उसे नही जानते ? देखा तो है। कई बार देखा होगा।"

"हा, देखा है। जानता हू। लेकिन, हुआ क्या ?"

"क्या बताऊ राजेश ! मुझमे सब हो गया था ! कोई खूबसूरती न थी जो मुझमे न हो ! वह जिन आखों मे देखता था उनमे कुछ कमी न रहती थी। मानो वह निगाह सारी दुनिया, सारा खजाना, सारा स्वर्ग मुझमे पा जाती थी। राजेश, वे दिन ऐसे ख्वाब मे गुजरे कि कुछ कहा नही जा सकता। मै उमगी रहती थी और घर मे नौकर को भी बर्दाश्त नही कर सकती थी। मेरा मन नही भरता था जब तक बर्तन मै न माजू, सफाई मै ही सब न करू और खाना भी खुद ही न पकाऊ। एक दफे खाना बनता था और हम निकल जाते थे। जहां चाहते जाते, और सब जगह रंगीनी थी और खूबसूरती थी और बदन मखमल बन जाता था। लेकिन···मेरे जिस्म मे से जाने क्या खोने लगा। और उसकी आखो मे से भी न जाने क्या कम होने लगा। लमहे वही होते और सब संसार वही रहता। लेकिन, वह बतलाता कि मैं उन्नीस-बीस बरस की क्यो न हुई और कुमारी क्यो न हुई ! और मुझे भी सोचना पडता कि हाय उन्नीस-बीस बरस की कुमारी मैं क्यो न हुई ! लेकिन, कुंवारपन मेरे बस का न था। और उसको उसी की चाहत होने लगी थी। मैं···मैंने

ज़हर भी खाया ! और भी रास्ते आज़माये। पर अपने से और आपस से नफरत ऐसे घुमड़ती हुई उठती कि हद पार कर वह प्यार बन जाती ! हम एक दूसरे को नफरत करते और फिर एकाएक प्यार में डूबकर, फिर नफरत करने का दम पा जाते ! उस सबमें स्वाद भी था राजेश। बड़ा तेज़ स्वाद था।'' मैं उसमें रहे जा सकती थी। मरती-मरती भी जिए जा सकती थी !'' पर क्या हुआ कि उसने कहा, दिल्ली चलेंगे।"

मैंने इस बीच सुषमा का एक हाथ अपनी दोनों हथेलियों के बीच ले लिया था और वह वहीं टिका हुआ था। अब स्वयं उठाकर सुषमा के हाथ को मैंने सुषमा की गोद में ही छोड़ दिया। सुषमा ने कहा—"क्यों ?"

मेरा स्वर भरा था। बोला—"कुछ नहीं !"

सुन कर सुषमा ने अपना हाथ बढ़ाकर मेरी उंगलियों को ले लिया और कुछ देर उन्हें उसी तरह थामे रही। लेकिन मुझ से सहयोग, सहारा न गया और सुषमा का हाथ वापस अपनी ही गोद में खिंच गया। मैंने जाना कि उसने मेरी ओर देखा है। मैं जाने कहां पार देख रहा था और जाने क्या देख रहा था।

"सुन रहे हो ?"

जाने दूर कहीं कुएं के भीतर से आवाज़ आ रही हो, ऐसे बोला—"हां।"

"नहीं। सुन नहीं रहे हो !"

"हां, छोड़ो।'' वह सब होता है।'' तुमने बहुत सहा।'''आगे मुझे सहने को न कहो।"

"नहीं, सुनो। हम दिल्ली आ गए। फिर जानते हो, एक रोज क्या हुआ ? बात थी कि तीसरे रोज बम्बई लौटेंगे। मैं उसी की सोचती थी और चीज़-वस्त के इन्तज़ाम में थी। तभी क्या देखती हूं कि'' एक सवेरे वह चुपचाप गायब हो गए हैं ! चाबी निशान ली थी और अपना सामान सहेजा लिया था। मुझे पता नहीं हुआ, शाम तक पता नहीं

हुआ। आखिर पता चला तो यही मेरी समझ मे नही आया कि न कहने की और चोरी की इसमे क्या बात थी! मै जबरदस्ती तो साथ बधने वाली थी नही। कहते तो कुछ उनके लिए सुभीता ही कर देती। लेकिन, राजेश, बताओ यह क्या होता है? जो एक दिन सब कुछ थी वही भार और बोझ कैसे बन जाती है? मै औरत हू और किसी तरह इस बात को नही समझ पाती!"

"तुम नही समझ पाओगी। कोई नही समझ पाएगा। छोडते हैं, उसको समझने की जरूरत नही रह जाती है। पाना चाहते हैं, वही आखों मे बसा रहता है। सुषी, कई होगे जो राह मे तुमसे भी छूट गये होंगे! उनके बारे मे तुम समझ सकती हो, सोच सकती हो!···यही उस बिचारे के साथ हुआ। उसके मन मे कभी तुम बसी थी, अब जो और सूरत और मूरत वहा बस गई होगी वह उसी के पीछे चला गया। तुम्हे अगर छोड गया तो तुम्हे समझने की उसे जरूरत ही कहा रही? छोडो। ···बन्द करो। आओ, उठो। हल्की बनो और रज को पी जाओ।···पिक्चर चलोगी?"

"नही, आगे सुनो ···यह आज उसका खत आया है। इसी के लिए तुम्हे बुलाया था कि पूछू, क्या करू?"

उस धुधली रोशनी मे राजेश ने खत पढा। बचकाना-सा था लेकिन उस मे बहुत दर्द था। वह सच्चा खत था। पढकर राजेश चुप हो गया।

"बोलो, बताओ। कुछ कहो न?"

"तुम क्या सोचती हो?"

"मै कभी·· कभी नही जाऊगी!"

"वह पागल हो सकता है! तुम्हारे बिना जीना उसे मुश्किल है। ऐसे मे जो पर गुजरे थोडा है·· यह सब तुम जानती हो।"

"नहीं जानती। कैसे जान सकती हू। मुह छिपाकर मेरी तौहीन करके जो चला गया है, क्या वह यह सब बनाकर नही लिख सकता? ···नही, सब धोखा है।"

ये दो

राम कुमार जी को 'महाशय' कहना शब्द का रूढ प्रयोग नही है। आशय वह अपना भरसक महान् रखते है। लेकिन उन्होने सिर पकडा, बाल खीचे, पर कुछ समझ मे न आया।

सवेरे का समय था, और वह अकेले थे। कुछ काम-धाम हो नही सका था। रात को नीद नही आई थी। और वह चुपचाप उठकर सवेरे मुह-अधेरे ही इस अपने अध्ययन के कमरे मे आ गये थे कि कुछ करेंगे। पर किया कुछ नही जा सका। आकर पहले तो वह इस कमरे मे इधर से उधर घूमते रहे। फिर मेज पर बैठे भी, तो कुछ देर बाद कुहनिया मेज पर टिक गई, और हथेलियो मे ठोडी तथा कनपटियो के सहारे चेहरा टिक गया। और वह सोच मे बैठे रह गये। बैठे-बैठे फिर उठना पडा। और फिर टहलने लगे। ऐसे ही समय बीतता गया। पक्षी चह-चहाने लगे। और सवेरा निकलता चला आया। मालूम हुआ कि समय अवश्य चला है, और शायद कदम भी बराबर चलते रहे है, पर बात वही की-वही रही है, तनिक भी चल-विचल नही हुई है।

बात सचमुच ही अगम थी। अजब जिच की अवस्था थी। उस पर यकीन करने को जी नहीं होता था। पर वह थी, और घोरता से सामने थी। अन्त मे उन्हे और कुछ नहीं सूझा, तो हार कर मेज पर बैठे, और हाथ बढाकर मेज पर लगी घटी को जोर से दबा दिया।

आवाज सुनकर आये नौकर ने बदगी बजाकर कहा—'जी ?"

राम कुमार जी ने ऐसे देखा, कि जैसे पहचानते न हो, कि किधर से यह कौन आ गया है। फिर समझ कर कहा—"बीबी जी क्या रही है ?...उन्हें भेजना।"

बीबी जी आई, तो वह कोई विशेष विश्वस्त और आश्वस्त भाव लेकर उपस्थित हुई, यह नहीं कहा जा सकता। आते ही बोली—"क्या है? तुम सोये नही?"

"तुम्ही क्या सो सकी हो? सुनो, अब और कोई रास्ता नही है। उससे मिलना ही होगा?"

"मिलकर क्या होगा? उसकी ज़िद तो ज़ाहिर है। वह एक नम्बर है, जो तुम समझते हो। झुकने वह क्यो लगा? तुम्ही सोचो, इधर ही ठीक न होगा, तो उधर क्या आशा रखी जा सकती है? अपनी लाडली को तो सभालो। उसी के बल-बूते पर वह कूद रहा है।"

"तुमने उससे बात की?"

"बात क्या खाक करू? वह तो गुम-सुम हो रहती है। बोले जाऊ, पूछे जाऊ, और अन्त मे हार कर मै ही सिर फोड लू। मैने कहा था, कि तुम बात करो। तुम से वह कुछ डरती भी है। मुझे तो गिनती तक नहीं। तुम्ही ने उसे चढाया है।··तब से कहती आ रही थी, कि समझो-बूझो। लेकिन तुमने एक नही सुनी। तुम्हें लडकी का भरोसा था, तो अब सभालते क्यो नही? हर बात मुझ पर देते हो। बिगाड़ते खुद हो, सभालने को मै हू।"

"अच्छा, अच्छा जाके उसी को भेज दो।"

"भेज तो दूगी, लेकिन देखना, डाटना-डपटना नही। दो-दिन में बेचारी आधी ही गई है। वह मौन सुख मे है? लेकिन कम्बख्त···उसे तो जेल होना चाहिए, जेल। पर तुम ने कुछ नहीं होने का दुनिया मे। समझ लिया।"

उनके कर्त्तव्य का मान इतना रह जाय, यह प्रसन्नता का सवाद न था। सुनकर महाशय की भौहें चढी। लेकिन उन्होंने अपने को काबू मे किया। कहा—"अच्छा, बाबा। जाओ, पुष्पी को भेज दो।"

"देखना प्यार से समझाना। एक दफा मार लिया, बस वह बहुत है।"

"तुम जाके भेजो तो उन्हें ।"

झल्लाहट में बात को संक्षिप्त करते हुए बोले—"तुम जाके भेजो उन्हें ।"

"अभी भेजती हूं । लेकिन तुम्हीं लाड करते हो । और वक्त पर तुम्हीं हाथ भी उठाते हो । अब मत उठाना हाथ । कहे देती हूं ।"

राम कुमार बहुत ही खीझ गये । उन्होंने माथे पर हाथ मार कर कहा—"अरे, बाबा, खतम करो । जाओ ।"

"हां, खतम भी अब मैं ही करूं !" कहती हुई, बीवी जी कमरे से बाहर हो गई ।

राम कुमार क्षुब्ध-मन बैठे रह गए ।

थोड़ी देर में वह वहां आई, जिसका नाम दुप्पी बताया गया था । वह द्रौपदी थी । सच्ची और पहली द्रौपदी कैसी होगी, पता नहीं । पर ऐसी रही हो तो भी महाभारत का काम शायद थोड़ा-बहुत चल जा सकता था । सुन्दर थी, यह कहना पर्याप्त नहीं । सौन्दर्य में जो अति-रिक्त था, वह ध्यान खींचता था । अवस्था अधिक नहीं थी । पर आंखों में अन्दर की दृढ़ता और प्रखरता झलक दे जाती थी ।

राम कुमार जब अपनी इस कन्या को देखते, तो किंचित चकित रह जाते । 'वह सब इसमें कहां से आ गया है, जो हम इसके माता-पिता दोनों में किंचित् भी नहीं है ? छुटपन से देखते आये हैं । बच्ची थी, तब भी सामान्य रूप और प्रकार की बच्ची नहीं थी । अपनी रखने और चलाने की जैसे छुटपन से ही इसके पास कुछ-न-कुछ हो जाता था ।' आज इस समय उसको समक्ष देखकर राम कुमार को सचमुच लगा, कि ताड़ना-प्रताड़ना सब व्यर्थ है । भाग्य ही एकान्त समर्थ है । उन्होंने कहा—"बैठो, बेटी ।"

द्रौपदी बैठ गयी ।

"एक बात पूछूं, तो बताओगी ?"

द्रौपदी चुप रही ।

बोली। "जी।"

"तुम वहां रह सकोगी ?"

"जी।"

"रह सकोगी ?···लेकिन पत्नी तो उस घर मे मौजूद है ?"

"मै निभा लूगी।"

"क्या कह रही हो ?" राम कुमार कुछ देर निस्तब्ध रहने के बाद बौखला कर बोले—"निभा लोगी ? पर कैसे निभा लोगी ? उप-पत्नी बनकर ? विपत्नी बनकर ? एक्स्ट्रा बनकर ? तुम निभा लोगी, पर जानती हो कि कानून निभाने को तैयार नही होगा ? दूसरी पत्नी हो नहीं सकती।"

"आप उनसे बात कर लीजिए।"

"तुम किससे बात कर रही हो, मालूम है ? बाप से बात कर रही हो। मै उससे क्या बात करू ! यह कि तुम आने को तैयार हो ? और मै तुम्हारा पिता तुम्हें वहा बिठाने को तैयार हूं ? यही बात करने को रह जाती है, "क्यो ?"

"वह सुखी नही है। बड़े दुखी हैं, बाबू जी।"

"ओह ! तो वह सुख तुमसे हो सकेगा। तुम शायद यही सोच रही हो, कि उसे सुख मिलना चाहिए, और तुम सुख दे सकोगी।···विमला को तुम भाभी कहती आई हो। उसने तुम्हें मा का प्यार दिया है। उस दुलार का यह प्रतिदान दोगी ! क्या तुम सचमुच समझ सकती हो, कि विमला को दुख देकर तुम्हारे पास सुख बचा रह जायेगा, कि खुद पा सको या किसी को दे सको ? विमला की चिन्ता और चिता पर क्या तुम उसके पति के सुख के भवन का निर्माण करना चाहती हो ?"

द्रौपदी रो पड़ी। उसने अपने मुह को हाथो से ढक लिया। हठात् बोली—"नहीं, नहीं, नहीं ! मै उन्हें दुख नहीं दे सकती। किसी तरह मै यह नहीं कर सकती। लेकिन वह तो—वह तो···मैं उनसे यही कहती रही हूं, पूछती रही हूं। वह कहते हैं—"

"क्या कहते हैं ? बोलो न, चुप क्यों हो गईं ?"

"नहीं । नहीं, नहीं । मैं भाभी जी के दुःख का कारण नहीं बनूंगी । लेकिन वह कहते हैं—"

क्रुद्ध स्वर से पिता ने कहा—"यही तो पूछ रहा हूं, कि क्या कहता है वह ?"

उच्छ्वास धीरे-धीरे समाप्त हो चुका था, और चेहरा भी हाथों से ढका नहीं रह गया था । द्रौपदी जोर लगाकर अटकते हुए कहा—"कहते हैं वह, कि वह मेरी कोई नहीं है । कभी कुछ नहीं रही है । मेरी फिक्र उसे क्या है ? उसने अपना सहारा पा लिया है ।' 'मेरा कोई नहीं है । मां नहीं है, बहन नहीं है, भाई नहीं है । बाप हैं, और वह नहीं से भी नहींतर हैं । मैं हूं, और मेरे चारों तरफ दुःख ही दुःख है ।" कहते-कहते द्रौपदी फिर उच्छ्वास से भर गई । उसी तरह चेहरे को हाथों में लेकर सुबक उठी । बोली, "बाबूजी क्या वह दुःख झूठ है ?—सब झूठ है ? प्यार झूठ है ? और क्या मैं झूठ के वश में थी ? नहीं, नहीं । ऐसा कैसे हो सकता है ? वह बातें, वे वायदे, वे कसमें ।·· नहीं, नहीं । सब झूठ कैसे हो सकता है ? सब झूठ नहीं हो सकता है । ओ बाबू जी, मैं क्या करूं ? मुझे और पीटिये कि मैंने झूठ को अपनाया है, धोखा खाया और धोखा दिया है । आपको परेशान किया है । लेकिन ओ बाबा, क्या वह सब झूठ था, फ़रेब था ? नहीं, नहीं । एक बार आपके सामने पूछ कर जान लेना चाहती हूं, कि वह सब झूठ और फ़रेब ही था क्या ? सच कहीं एकदम न था ?"

कहते-कहते वह कुर्सी से नीचे गिर आई, और पिता के घुटनों से लगकर फफक-फफक कर रोने लगी । कहती जाती थी—"मुझे और मारिये, बाबू जी, और मारिये । मैं झूठ में आ गई, और झूठ बनती रही···पर क्या वह सब झूठ था ? लगता तो नहीं है । पर आप कह दीजिये कि वह झूठ था, और उसके लिए आप जितना मारेंगे ठीक होगा ।"

महाशय राम कुमार का चित्त पसीज गया। उन्होंने बेटी की बाहों को अपनी जांघों पर से खोलकर उसे उठाते हुए कहा—"उठो, बेटी। सामने बैठो। हां, ऐसे।" उसी की धोती का पल्ला लेकर आंसुओं से भरे उसके चेहरे को पोंछते हुए कहा—"स्वस्थ हो के बैठो, बेटी। तुम पढ़ी-लिखी हो, और अब एम० ए० हो जाओगी। माफ करो कि मेरा हाथ तुम पर उठ गया था। अब समझता हूं, कि वह गलती थी। क्योंकि तुमने झूठा आचरण किया भी था। तो उसके भीतर सच है, यह समझ कर किया था। समझा था तुमने कि प्यार की रक्षा कर रही हो, और जहां दुख है वहां सुख की सृष्टि करने में अपना विसर्जन कर कर रही हो। अब मैं समझ पाता हूं कि क्या चीज़ तुम्हें दृढ़ता दे रही थी। मैं ज़िद समझता था, पर ज़िद को भी जो एक आन थामे हुए थी, उसको मैंने नहीं देखा था। अब वह अन्याय मुझ से न होगा। लेकिन, बेटी, अब मैं तुम्हारी सच्चाई को देखता हूं, तो तुम्हें बतला भी सकता हूं, कि तुम भूल में थी, और झूठ में थी, कि तुमने एक नहीं, दो नहीं, पूरे आठ महीनों से हम लोगों से झूठा व्यवहार रखा, हमें झूठा आश्वासन दिया। और इसमें उस आदमी ने तुम्हें उकसाया, जिसको तुम कहती हो कि प्यार जानता और चाहता था। सोचोगी तो पता चलेगा कि यह सब कितना मिथ्या व्यापार था। प्यार तो सचमुच सच से भी बड़ा सच होता है। अगर उसमें डर आ मिला, और उसकी वजह से झूठ और चोरी भी आ गई, तो सोचो कि क्या वह मूल में प्यार भी रहा होगा? या कि वह असल में छल ही होगा?···विमला के लिए उसने कहा कि वह कभी उसकी कोई या कुछ भी नहीं रही। बारह वर्ष से वह उसका साथ देती रही है। हम सब ने देखा है कि उस-सी जैसी परायणा पत्नियां आम तौर पर नहीं होतीं।···तुम्हें जो अपने घर में झूठ और चोरी का आचरण कराता रहा, जो स्वयं अपने घर में झूठ का व्यवहार करता रहा, फिर जो इतना कृतघ्न बना कि परायणा स्त्री के दुख की तरफ से विमुख होकर उसकी

सब तरह की निन्दा और कुत्सा तुम्हारे मन में जगाता रहा, वह कैसे तुम्हें सच में ऊपर उठाने की सोच रहा होगा ? ...क्या इतना काफ़ी नहीं है, कि तुम देख लो कि प्यार के नाम पर जो विभ्रम तुम लोगों ने पैदा कर लिया था, उसमें कहीं कोई यथार्थता न थी, और वह एक कोरा झूठ था ? तुम बाप पर उसी को थपके रहना चाहती हो। लेकिन जिस पर मुट्ठी बांधी है, खोलकर ज़रा देखो कि क्या उसमें सचमुच कुछ है भी ! ...एक बात बताओ। पासपोर्ट बनने पर तुम लोग विलायत कब जाने वाले थे ?"

"फ़ौरन चले जाते।"

"मार्च में ही ?"

"हां, शुरू मार्च में।"

"पैसे का क्या होने वाला था ?"

"जी ?"

"मैं उनकी हालत जानता हूं। पांच हज़ार का भी इन्तज़ाम उनके लिए आसान नहीं है। उसे कहीं उधार नहीं मिलेगा। फिर यह सब किलाबन्दी सब पर थी, यह भर कैसे मान सकता हूं ? बल्कि यह षड्-यंत्र था। कुन्नी बेटे, क्या मैं तुम्हारा सुख नहीं चाहता ? आखिर तुम्हीं कह चुकी हो, कि तुम्हें भरोसा था, कि जो तुम चाहोगी, तुम्हारे बाबू जी कभी तुम्हें उससे नहीं रोकेंगे। सोचो कि कुछ तो होगा, कि इस बात में मैं इतना उद्विग्न हो गया हूं। तब के रस्ते दूसरी कभी नहीं हो सकती। ऐसा सम्बन्ध कानून को मान्य नहीं होगा, समाज को मान्य नहीं होगा। और वह भी विवाहिता कहलाएगा। ...लेकिन चलो, कानून या समाज के उल्लंघन को भी समझ लिया जाए। इन दोनों चीज़ों को मैंने कोई ईश्वर नहीं माना है। मैंने माना है, कि प्यार इनसे ऊपर है। ईश्वर प्यार में है, कानून में नहीं है। लेकिन सचाई से निकलना होती है। वह सचाई तुम लोगों के सम्बन्ध की क्या ? प्रेम सच है, इसलिए सौन्दर्य और पूजा होता है। तुम लोग कानून में भूल छिपाकर

भागना चाहते थे। शायद जरूरत पड़ने पर नाम तक बदलते और दबे-छिपे रहने की कोशिश करते। बोलो, इसमे तुम बडाई देखना चाहते थे? मालूम है, तब क्या होता? तुम कानून से भागते, और कानून तुम्हे पकड़ने पीछे-पीछे जाता। सोचते होगे, कि देश से पार विदेश मे जाने से कानून की गिरफ्त छुट जाती। वह बात सच नही है। देश-विदेश सब आपस मे ऐसे मामलो मे सहयोग करते है। सब देशो मे मोनोगेमी है। दुप्पी बेटे, तुम समझदार हो। इस साल एम० ए० हो जाओगी। तुम्हारी कोई स्वतन्त्रता मैं तुमसे छीनने वाला नहीं हूँ। लेकिन तुम्ही उस स्वतन्त्रता को अपने चारो तरफ से काट कर अपने को कैद-खाने मे डाल लो, तो इसमे मैं तुम्हारी कोई सहायता नही कर सकता। तुम वही करने जा रही हो। सच के प्रकाश से कटकर तुम झूठ के अधेरे मे ही छिप कर अपना स्थान बनाने को रह जाती, और इसकी अनुमति मेरे पास से आ न सकती। अब भी देखो कि तुम बाल-बाल किस नरक की सभावना से बची हो। मैं पूछता हू, क्या है कि वह आदमी आज भी मेरे सामने नही आता है? जब पता चला, उसी क्षण से वह कन्नी काटता फिरता है। वह प्यार है, जो ज्योतिष्क और उद्ग्रीव होता है? मैं समझता हू, द्रौपदी, कि तुम पहचानोगी कि यह वह चीज है, जो मुह छिपाकर रेंगने को अधेरी सीली गलियो और मोरियो को ढूढती है। वह प्रेम नही है, कि जो एकमात्र पुण्य है। यह दम्भ और छल है, जो निरा और कोरा पाप है।"

"पाप!" द्रौपदी जोर से यह शब्द कहकर, हक्की-बक्की-सी अपने पिता को देखती रह गई। फिर अपने भीतर जाने कहा से सचित खीझती हुई बोली—"प्रेम पाप नही होता, बाबू जी।"

राम कुमार ने अतिशय स्नेह से कहा—"ठीक कहती हो, बेटी। प्रेम पाप नही होता। पाप है, और इसीलिए वह प्रेम नही है।"

"बाबू जी, मैं आपके हाथ जोड़ती हू। मुझे कुछ-कुछ दीख रहा है। लेकिन एक बार आप उन्हे बुला दीजिए। आपके सामने पूछ कर मैं

अपने मन में अच्छी तरह जान लेना चाहती हूं, कि क्या जो था, वह सब झूठ था। नहीं, वह मुझसे झूठ नहीं कह सकते। मेरी आंखों में देखकर वह झूठ नहीं बोल सकते, कभी नहीं बोल सकते।"

"दुग्गी!"

"आपको विश्वास नहीं होता?"

"अविश्वास की बात नहीं है, बेटी। विस्मय यही है कि तुम जैसी सयानी को नहीं दीख रहा है, कि इस सारे मामले के भीतर दगा छिपा है।"

"दीख रहा है, बाबू जी। दीखने लग रहा है। आप उन्हें बुलाइए तो। जो मुझे अब कुछ-कुछ दीख रहा है, देखूंगी कि उसी को वह देखने से कैसे इनकार करते हैं। आप कहते थे, कि उन्हें जिद है।"

"हां मुझे बताया गया है, कि जिद ही है। वह उस रास्ते से बाज नहीं आना चाहता, जिसे सीधी भाषा में अपराध का रास्ता कहना चाहिए। तुम्हारी वजह से मैं हाथ खींचे हुए हूं, नहीं तो अपराध को रोकने के लिए कानून ने जो बातें तैयार कर रखी हैं, वह कब बढ़कर उसको दबोच लेंगी, मैं कह नहीं सकता। तुम्हीं बताओ, जिद का दूसरा इलाज हो भी क्या सकता है?"

"मैं बालिग हूं, पिता जी। और बालिग लोगों की स्वतन्त्रता पर कोई कानून हाथ नहीं डाल सकता।"

राम कुमार का चेहरा मलीन हो आया। बोले—"मालूम, तुम पढ़ी-लिखी हो। शायद तुम समझती हो, कि कानून के बारे में तुम सही सोचती हो। उस रुख में मैं नहीं जाता। पुलिस और अदालत में मैं तुम लोगों को उलझाना नहीं चाहता, क्योंकि वे बड़ी मनहूस व्यवस्थाएं हैं। मैं अपने में तुम्हारा डर ही दूर करना चाहता हूं। डर के मारे ही जो बना, सो बना। लेकिन अगर डर बिलकुल दूर नहीं होगा, और सब का सामना करने में दगा और झूठ की राह लेना पड़ जाता रहे है, तो लगता है कि उनकी मुठभेड़ का इलाज पीछे से दूर किया नहीं

रहेगी। इसमे कोई कुछ नही कर सकता है, बेटी, कि अपराध को कानून से निबटना पडे। फल क्या होगा, निश्चित नही है। लेकिन परिवार भग हो, और दमन और विद्रोह का आमने-सामने द्वन्द्व हो निकले तो यह खानदान के लिए या किसी के लिए भी शोभा की बात नही होगी।"

"पिता जी, धमकाइए नही।"

"बेटी, तुम को धमकाने के लिए कोई और आने वाला नही है। मुझको भी बन्द करती हो, तो लो बचा-खुचा मै भी बन्द हो जाता हू। लेकिन छोडो। बात अपने बीच मे है। दमन और दलन का जो यन्त्र खडा है, वह दूर और बाहर है, और उसके आवाहन के लिए मै आतुर नही हू। लेकिन ··बोलो, बात करोगी ? उसे बुलाऊ ? फोन करू ?"

"हा। बुला लीजिए।"

"क्या तुम इजाजत दोगी, वह आये, तो पहले मै ही उनसे बात करू ?"

"क्यो ? आप धमकाइएगा तो नही ?"

"इसीलिये कि क्यो का प्रश्न अभी तुम्हारे मन मे उठा दीखता है ? नही, धमकाऊगा नही।"

"बाबूजी, आप लोग उन्हे दुश्मन न मानिये। वह दुष्ट भी नही है। ऊपर से जोर पडता है, तो वह अन्दर से कस जाते है। लेकिन मेरा अहित वह किसी तरह नही कर सकते। मै उनका हित सोचती हू कि कह दू, कि 'देखो तुम्हारा हित इसमे नही है, और तुम अपना हुआ ब्याह निभाओ।' धमकाने से जिद बनेगी, बाबू जी, और वह नही झुकेगे। और वह अपनी तरफ से नही छोडेगे, तब तक दिया वचन मै अकेली लौटा कैसे सकती हू ?"

राज कुमार ने आवेश मे आकर कहा—"क्या ? फिर वही ?"

"हा, बाबूजी, दो के बीच का वचन एक कैसे तोड सकता है ? कानून अगर ऊपर से तोड देगा, या आप लोगो की खातिर वह टूटेगा, तो क्या वह अच्छी बात होगी ? मन के अन्दर वह अगर कच्चा ही रह जायेगा,

तो इससे क्या होगा, बाबू जी ? क्या आपकी देवी का जीवन [illegible] और सुखी होगा ?"

"क्या कहती है तू, द्रौपदी ?"

"यही कहती हूं, बाबूजी, कि अगर आप पहले उन से बात करना चाहते हैं, तो जरूर करें। लेकिन धमकी या जोर से काम लीजिएगा, तो फिर आगे का काम मुश्किल हो जाएगा। और मुझसे न बन सके, तो फिर मुझे दोष मत दीजिएगा।"

"तुझे विश्वास है, कि तू सम्भाल लेगी ? यह तू कहे, तो मैं भी कह सकता हूं।"

"विश्वास की बात क्या है, बाबूजी ? उन पर मैं आरोप नहीं लगा सकती। प्रेम कठिन तभी तो होता है, जब प्रतिरोध भी हो। मैं इसमें निर्दोष तो नहीं हूं। इसलिये उनकी ओर से मैं कुछ भी नहीं कहूंगी। लेकिन वह, कुछ भी हो, मेरे सामने झूठ नहीं कहेंगे। ऐसा साहस कभी नहीं करेंगे। मुझे लग रहा है, कि जो हुआ, ठीक नहीं हुआ। सब तरह उसमें उलझन ही देख रही हूं। मुझे सोचने लग गया है, कि हमारे प्यार की सचाई में जरूर कहीं-न-कहीं कमजोरी रही होगी। नहीं तो झूठ हम नहीं अपनाते, न आस-पास के लोगों के सुख को इतना नगण्य मान अपने ही सुख को बड़ा गिनने लग जाते। ऐसा हुआ, तो प्यार में कहीं-न-कहीं स्वार्थ रहा ही होगा।

"सच द्रौपदी !"

"हां, बाबू जी। यह मैं देखती हूं। और सब ओर हम लोगों ने बहुत कुछ एक नजर से देखा है, और एक मन से स्वीकार किया है। इसलिये समझती हूं, कि जो मैं देखने लगी हूं, वह वह भी देख सकेंगे। और [illegible] आज [illegible] कर [illegible] जाते हैं, वह [illegible] आयेगी।'

[illegible] सब सुन कर [illegible] उत्साह में [illegible] ने [illegible], और कन्धे से द्रौपदी को पकड़ कर बोले—"शाबाश, द्रौपदी !" बाद [illegible] बाद कर उन्होंने द्रौपदी को पूछा। बोले—'अब मुझे [illegible]

बात करने की कोई जरूरत नही। न यहा तुम्हारी बातो के बीच शायद मौजूद रहने की ही जरूरत है। तुम दोनो खुलकर बात क और पीछे मुझ से कहना।"

"नही, बाबूजी," द्रौपदी ने कहा—"आपको अपना मन जरूर ए कर लेना चाहिए, और उनसे भरपूर कह-सुन लेना चाहिए। बस, मे पुलिस वगैरा को मत लाइएगा। आखिर आत्मीयो में डर-लिहाज बात क्या है ? गलती हम लोगो की तरफ से यही तो हुई, कि ड बचाव से काम लिया। तभी जो हमने सच माना था, वह सशय से होने के कारण अन्त मे झूठ निकला। और आत्मीयता मे गुस्सा व हो, तो वह सब निकल-निकला कर आखिर भलाई को ही राह देता इसलिये आप मेरे परोक्ष मे हर तरह उनसे अपने मन की कह-सुन ल येगा। बख्शने की बिल्कुल न सोचिये। सिर्फ बाहरी धमकी को लीजियेगा। और यह भी जरूरी है, कि आप रहे, जब हम दोनो बातें हों।"

"नही, नही, दो जवानो के बीच मे मेरा क्या काम ?" और प्र भाव से अपनी बेटी द्रौपदी को दोनो गालो पर थपथपा कर, वह तरफ रखे हुए टेलीफोन की ओर बढकर, चोगा उठाकर, डायल लगे।

अप्रैल '६२

वे दो

"आओ, अजित आओ, बैठो ।"

महाशय राजकुमार ने उस युवक के अभिवादन में कहा जो हर तरह योग्य जान पड़ता था और जिस पर व्यक्तित्व की झलक दीखती थी ।

युवक ने तनिक झुककर प्रणाम किया । कहा, "आपने मुझे याद किया था ?"

"हां । मैंने खुद फोन किया था । तुम उस वक्त थे नहीं । विमला थी । असुविधा तो नहीं हुई ?"

"मैं क्या आपके लिए इतना दूर बन गया हूं बाबूजी कि सुविधा पूछी जाए ?"

राजकुमार जी ने एक भरा सांस लिया । कहा, "हां । दूर तो बन गए हो कुछ । लेकिन मैंने यह नहीं सोचा था । यह सब कैसे हो गया ? तुम लोग रह क्यों नहीं सके ?"

"आप शायद समझते नहीं । मैं बहुत अकेला हूं बाबूजी ! कोई मेरा नहीं है । आप यह सब कैसे समझते और मैं कैसे समझाता ? हमदर्दी कोई बुरी चीज तो है ? नहीं, वही बढ़कर प्यार बन जाए तो क्या उसमें बुराई है ? ...लेकिन बुराई देखी जाती है । कहां से उसमें बुराई दीखती है, वह आप लोग ही जानते हैं । समाज के नीति और नियम की रक्षा को आप बड़ी बात समझ सकते हैं । उसी लिहाज से बुराई को भी सिद्ध कर सकते हैं । लेकिन यह सब आवश्यकता हमारे जैसे प्राणों की तो होती नहीं है । आवश्यकता होती है सहानुभूति की, स्नेह की, विस-र्जन की !"

"ठहरो ! तुम अपने आप में बहुत विचित्र हो !"

"अपने किस बारे मे बाबूजी ? यह कि नियम हम कम देख पाते है और स्नेह को ज्यादे मानते है। यह बात तो सच है।"

"विमला को तुम स्नेह नही करते ?"

"नही।"

"ब्याह तो किया है।"

"हा।"

'वह भी तुम्हे स्नेह नही करती ?"

"यह नही सकता।"

"स्नेह को तुम मानते हो ?"

"उसी को मानता हू।"

"द्रौपदी को तुम कब से जानते हो ?"

"आप क्या पूछ रहे हैं ?"

"नहीं, बताओ। वह उस समय सत्रह वर्ष की रही होगी। इंटर मे आई थी और तुम नये लेक्चरार लगे थे । तब से ही न यह स्नेह अनुभव हुआ होगा । उससे पहले तुम्हारे स्नेह की क्या दशा थी ? माफ करना यह जिरह नही है । स्नेह को समझने की बात है । स्नेह तो जीवन है, क्यों, है न ? अर्थात् उसके बिना जीना हो नही पाता। यौवन को तुम महत्व देते हो और ठीक देते हो । लेकिन स्नेह के बिना शैशव और वार्धक्य भी नही कट सकता है। अजीत, तुम लोग स्नेह पर अपना आधिपत्य मानते हो। यही यौवन की भूल है। अब सोचो और बताओ कि द्रौपदी इटर मे आई और तुम कालेज मे आए तो उससे पहले स्नेह तुम दोनो के जीवन मे अनुपस्थित तो न होगा न ? अपने-अपने वृत्तो मे, फल-फूल रहा होगा।"

अजीत को अच्छा नही लगा। उसने कहा, "आप क्या चाहते है ?"

'तुमको बुलाया है और आज कुछ समझना-सोचना चाहता हू। तुमसे परिस्थिति ऐसी आती है कि—"

"इस बात को आपने समझने-सोचने से आगे नही बढा दिया है ?

पिता जी के पास आपका धमकी का पत्र है।"

"हाँ, बात आगे बढ़ गई है और तुम शायद उसे अब पीछे नहीं लेना चाहते हो। तब तो उसे और भी आगे बढ़ने से रोका नहीं जा सकता!"

"बढ़िए, और बढ़ाइए। मैं आपको रोकूँगा नहीं। आपने शायद भाई जी पुलिस से बात की है। और सबसे भी चाहे तो कीजिए। लेकिन आप भी नहीं रोक सकेंगे और हम भी नहीं रोक सकेंगे। प्यार गलत चीज नहीं है और कोई उसे रोक नहीं सकेगा।"

"तुम समझदार हो अजीत! मन में सही और गलत नहीं होता, काम में हुआ करता है। यहाँ पर इतना ज्यादा होता है कि हम समाज की इज्जत के लिए ही शायद हम रहते हैं और दुनिया उनसे चल रही है। पत्नी रहते हुए विवाह दूसरा नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि संग साथ चाहने वाला प्रेम भी नहीं रखा जा सकता? केवल मन में रहने वाला प्रेम हो तो कौन रोक सकता है? तुम लोग तो साथ रहना चाहते हो! तुम जानते हो, यह संभव नहीं है।"

"मैं तलाक ले सकता हूँ।"

"तो लेने तक ठहरे क्यों नहीं? साथ साथ विदेश भागने की तैयारी कैसे ठन गई!"

"तलाक में समय लगेगा।"

"तो इतना धैर्य रखना चाहिए था।"

"धैर्य!" कहकर अजीत एक कड़वी मुस्कान से मुस्कराया। कहा, "माफ कीजिएगा। हम लोग उतने ठंडे नहीं हैं। ठंडक को गुण नहीं मानते... उपदेश उसी ठंडक में से आता है और वह वृथा है। आपको उस ऊँचाई पर बैठकर बात करनी थी तो मुझे बुलाने की जरूरत नहीं थी। आप द्रौपदी के पिता हैं। लेकिन जिन्दगी उसकी अपनी जिन्दगी है। आप अपने दायरे में, अपने विश्वास के दायरे में तो जिन्दगी को घेर रख नहीं सकेंगे। चाहेंगे तो ज्यादा पछताएँगे... मैं भी उस विवाह में कैसे बँध कर रह सकता हूँ जो मेरे विश्वास और विचार से

बाधक है और जिसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं। वह जिसे पत्नी कहा जाता है, साथिन नहीं है। और हम दोनों एक-दूसरे का साथ नहीं दे सकते तो विवाह को समाधि बनाकर उसके नीचे स्वयं शव बनकर जीने का कोई अर्थ नहीं है। विमला आजाद है और तभी से आजाद है, जब द्रौपदी का मेरा परिचय हुआ। उस पर मेरा कोई अधिकार, कोई आरोप नहीं गया है। मैं…"

"तुम में नैतिक साहस देखता हूं अजीत ! और यह अच्छा है। लेकिन फिर ये चोरी-झूठ क्यों चलता रहा ?"

"आप समझ न पाते। माता-पिता अगली पीढ़ी को समझ नहीं पाते हैं।"

"यह जोखम भी तुमने क्यों नहीं उठाया ? विद्रोह कायरता से तो अच्छा रहता है।"

"आज मैं जरूर यह सोच रहा हूं कि कायरता हमने क्यों दिखलाई। हो सकता है कि कायरता वह न हो, करुणा रही हो। आप लोगों का चित्त हम नहीं दुखाना चाहते थे।"

"अब तुम देखते हो कि चित्त दुखा नहीं है, फट गया, टूट ही गया है। उस वक्त तुम लोग खुलकर सामने आ गए होते तो मैं समझता कि तुम्हें दुख का ध्यान है। और दुख देने की कीमत देकर तुम लोग हमको एकदम बाद दे देना या तोड़ डालना नहीं चाहते। मैं उसको साहस कहता। चाहे सहमत न होता और विरोध भी करता, पर भीतर ही भीतर उसको सराह सकता। लेकिन जिसको तुम करुणा कहते हो, करुणा नहीं थी, लिप्सा थी। लिप्सा भी इसीने तुम्हें कायर बनना पड़ा। और इसीसे जरूरी होता है कि तुम यह रास्ता छोड़ो, सीधा रास्ता पकड़ो।"

"सुनिए, बाबूजी !" तनिक ठहरकर अजीत ने कहा, "दबने का रास्ता हमारे लिए सीधा नहीं है। प्रेम के रास्ते पर सीधा चलने और उसी को सीधा सिद्ध करने के लिए जवानी जाती है और उस चुनौती

से हम पीछे नहीं हट सकते । आपने अपने पितृत्व के कर्तव्य में प्रति-
बद्ध होकर शायद समस्या को यह रूप दे दिया है । आपने धमकी दी है और चुनौती फेंकी है । मैं सुनकर कहता हूं कि मैं उस चुनौती को उठाता हूं और आप जो चाहें कर लीजिए । होगा वही, जो होना है । हम लोगों की प्रतिज्ञा बदलने की नहीं है और वह टूटना नहीं जानती ।"

राजकुमार जी को जाने कैसा लगा । वह भीतर ही भीतर भर आए । अन्त में हंसकर बोले, "तुम दोनों की प्रतिज्ञा कुछ हो सकती है, लेकिन समाज की भी कुछ प्रतिज्ञा है । उसका कानून और सरकार बन कर राज्य का तंत्र खड़ा हुआ है । उससे तुम बच कर भागने की सोचोगे, यही न ?"

"यही मैं आपकी सलाह लेना चाहता हूं । बताइए हम क्या करें ? हम जीवन के आरम्भ में हैं, हमारी सहायता कीजिए ।"

"सहायता यही है कि सब भूल जाओ । अभी तो भूल ही जाओ । अगर घर में तुम्हारे कलह बढ़े और तलाक जरूरी हो जाए और मिल भी जाए तब जो हो सोच लेना । तब तक मन को शासित रखो और अपनी परीक्षा में रहो ।"

"हम चले जा सकते हैं दूर, जहां कोई हमको नहीं जानता ।"

"वहां भी साथ रहोगे तो नाम बदल कर और वेश्या का रूप देकर ही तो रह सकोगे ? नहीं तो कानून में आ जाओगे ।"

"क्यों, दो वयस्क जन साथ नहीं रह सकते ?"

"विवाहित पत्नी के रहते रह सकते हैं ?"

"वहां कौन हमें जानेगा । नये नाम से नया जीवन शुरू करेंगे । और कोई उंगली उठानेवाला नहीं मिलेगा ।"

"प्रवीण, तुम मानते होगे कि विप्लवशील आदर्शों में जान डाल रहे हो । लेकिन यह न भूलो कि वह भोगवाद का [illegible] है । कहो यही बताओ मुझे कि उसी को चाहते हो कि वह अपनी आत्मा की [illegible] का आदेश है ?"

बीच मे ही अजीत ने कहा, "और आप अपने को विचारशील कहते हैं। यही आपकी विचारशीलता है? बाप होने भर से बेटी को अपनी चीज मानते है और उसके जीवन का भला-बुरा नही सोच सकते। अपनी और समाज की नीति को रखने और सन्तान के मन को कुचल कर मार डालने की जो बात करता है वह अपने को विचारशील कहता है। ''मै चलता हू। सब व्यर्थ है।"

"बैठो, बैठो!" राजकुमार जी ने उठते-उठते अतिथि को टोकते और रोकते हुए कहा, "ठीक कहते हो तुम कि शायद पिता मुझ मे बोल रहा है। इस समय विचारशीलता उसके अधीन हो गई हो सकती है। लेकिन द्रौपदी से तुम्हारा परिचय हुआ, उससे पहले उसे स्नेह कहा मे मिलता था? और उसका स्नेह किसको मिलता था? उस सबको बीता कहकर आज तुम क्या किसी तरह अस्त और अवर्तमान कर सकते हो? यह बात सच है कि तुम्हारी पत्नी के जीवित रहते मैं यह कभी नही होने दूगा कि वह तुम्हारे सग-साथ रहे। इसको रोकने के लिए कानून की सब शक्ति का आवेदन करते भी मैं नही झिझकूगा। तुम्हारा मन और द्रौपदी का भी मन बाद मे आता है, तुम्हारा असली सामाजिक हित पहले है। उस सहवास मे से विष और नरक उपजता है जिसको बाहर की ओर से विश्वास और सद्भाव नही प्राप्त होता और इसलिए जो दो मे ही घुटकर रह जाता है। प्यार प्रकाश चाहता है। अन्धेरे मे ही जिसको रहना पड़ेगा, वह प्यार इतनी जल्दी खट्टा और कसैला हो जाएगा कि उसमे से द्वेष की लपटें फूट निकलेंगी। मैं यह सब आज ही देख सकता हू। तुम नही देख सकते, क्योकि बीच के वे वर्ष तुमने अभी पार नहीं किए है, जिनमें यह दर्शन प्राप्त हुआ करता है। लेकिन सिर्फ इस अनुभवहीनता के नाम पर तुम लोगो के जवान अरमानों को कुचल देने के लिए नही कहा जा सकता। यह छोडो। एक बात बताओ, शिमला पर तुम्हें लगाव है?"

"जी!"

"ख्याल मत रखना। बड़ी प्यारी बेटी है यह। और ऐसी तुम्हें ढूंढ़कर भी नहीं मिलेगी।"

"आप क्या कह रहे हैं ?"

"कुछ नहीं। विमला के कारण तुम भाग्यवान हो।...हो सकता है, तुम्हारे स्वभाव से तुमसे प्यार न पा सकने की ग्लानि में, वह निर्जीव न हुई हो और तुमने उससे कोई दावा भी न ठाना हो। न विवाद उपस्थित किया हो। लेकिन तुम उसे गलत न समझना।"

"आप यह बात न कीजिए। अपनी बात कहिए।"

"अपनी ही कहता हूं। द्रौपदी अपनी ही है, विमला अपनी है तुम अपने हो। द्रौपदी को विमला ने कितना-कितना प्यार किया है। उसीके कष्ट की पूंजी से तुम कोई योजना आरम्भ न करना। विमला को दूर जाना पड़े, टूट जाना पड़े, ऐसा कोई काम तुमसे न बनना।"

"आप छोड़िए उनको, उनकी चर्चा को।"

यतीन के स्वर में व्यंग्य का आभास पहचान कर उन्होंने कहा।

"क्यों बेटे, क्या बात है ?"

"जाने दीजिए। वह बात न छेड़िए।"

"क्यों, क्यों ? लो, नहीं छेड़ता हूं। तुम दुःखी न हो। लेकिन क्या बात है ?"

"कुछ नहीं ! कुछ भी नहीं !" कहते-कहते यतीन सहसा उद्दीप्त हुआ और बोला, "ये तो हैं, घर में कोई चलता नहीं है। और आप द्रौपदी के लिए हैं। इसलिए जो थोड़ा-बहुत लिहाज मेरे मन में आपके लिए रहता है उसको इतना लाभ न उठाने दीजिए।...यह बताइए, आप द्रौपदी को भूल नहीं सकते ? वह घर में नहीं है ?"

"शुक्रिया ! उसे भी शुक्रिया। और तुम लोग आज करोगे। और मैं भूल छोड़ूंगा।" कहते-कहते बाबूसाहब अपनी जगह से उठ गए, और यतीन के पास पहुंच कर धीमे-धीमे उसके कंधे पर थपथपाते हुए बोले, "बेटा, मैं यहीं हूं तुम्हारे लिए जो था। क्या जाता है ? जाना।

हूं, तुम दुखी हो । ऐसी बात क्या है ?"

अजीत का गला भर आया । उसने कहा, "कुछ नहीं ।" और हठात् कंधे पर आए उनके हाथों को उसने हटाया । कहा, "आप मुझे छोड़ दीजिए । मैं अकेला हूं और अकेला रह सकता हूं । और किसी से कुछ नहीं मांगता हूं ।"

रामकुमार एक-दो कदम पीछे हट आए । बोले, "मैं अभी द्रौपदी को बुलाता हूं । तुम लोग बात करना और मैं यहां न रहूंगा । और तुम संशय में न रहना ।" कहकर रामकुमार मेज की तरफ बढ़े कि बटन दबाकर घंटी दें । तभी अजीत ने कहा, "ठहरिए । अभी दुप्पी को न बुलाइए । मैं आप से जाने कब से कहना चाहता था, हिम्मत नहीं होती थी । आप—आप बैठ जाइए ।"

रामकुमार बैठ गए और भीगी वाणी-से बोले, "बेटा, कहो क्या बात है ?"

अजीत का गला भर आया, 'क्या कहूं, बाबूजी ! मेरी मां नहीं है । मामी, बुआ कोई नहीं है । बहिन नहीं है । पिता जी मुझ से बचपन से जो रूठे हैं, सो ऐसे रूठे हैं कि वह नहीं के बराबर हो गये हैं । वह मुझे मन से छोड़ चुके हैं । मैं उनका इकलौता हूं और जानता हूं कि सारे प्यार के लिए उनके पास एक केवल मैं हूं । लेकिन वह मुझ से आजिज हैं और उनकी अब सब आशाएं मुझ कुलांगार से उठ चुकी हैं । दुनिया में सब तरफ देखता हूं । कहीं कोई अपना नहीं है । विमला—उसकी न कहूं तो अच्छा है । वह ब्याहता है, पत्नी है, और आई तो यहां भी तो थी । मैं शायद भोला नहीं था और कसूर मेरा ही रहा होगा । मैं अकेला पड़ता गया और वह अकेली पड़ती गई । और अगर अब वह कहीं से अपने लिए थोड़ा-बहुत मान पा लेती है और वहां से दो एक बूंद रस ले लेती है, सो मैं कहीं तो कह सकता हूं कि देखी-अनदेखी कर रहूं ! यह भी मैं नहीं सोच पाता हूं कि मैं वंचित रह गया हूं, ठगा रह गया हूं । क्योंकि अगर वह कहीं से बूंद रस लेती है तो

इसीलिए कि इधर सब वीरान है और उसकी प्यास प्यासी ही रह जाती है । इस अपने सिर को लेकर मैं कहा जा मरू कि जो तन मन के साथ दिमाग का भी साथ चाहता है । पतिव्रता ठीक है । लेकिन जिन विषयो पर मुझे रस है, क्या उन पर भी मुझे कोई साथ और सहारा नही चाहिए ? और मैं जितना सोचता हू, एकान्तता बढती जाती है और मेरी आवश्यकता भी उतनी ही निविड होती जाती है।'' द्रौपदी मिली थी' 'आप उसके पिता हैं ।'' आप जानते हैं, मैं सिगरेट पीता था । शराब पीता था । रुपया उड़ाता था । उडते रुपये को ऐसे देखता था जैसे फूटते सूरज की किरणो को कोई देखता है । बडा अच्छा लगता था और उस रम्य दृश्य के और अपने बीच मे सिगरेट के उठते हुए झिलमिले धुएं को बीच मे डालकर उस सब को आख-मिचौली के खेल मे स्वर्गीय स्वप्निल बना लेता था । तब वह दृश्य मुझे बडा गुदगुदाता था।'''अब वह सब खतम हो गया है । शराब छूता नही, सिगरेट एक-दम छूट गई । और उन रगीले-सजीले सपनीले मुग्ध दृश्यो से भी नाता मैंने तोड़ लिया । क्यो ? क्योकि आपकी कन्या द्रौपदी देवी थी । उसने मुझे उत्कर्ष का मार्ग दिखाया । उसके कारण मैंने इन्सान बनना शुरू किया है । उससे मैंने कल्पना सजाई है कि मैं सचमुच कुछ बन सकता हू और कर जा सकता हू ।' 'विमला खुश है तो खुश रहे । खुशी जहा से ले सकती है, वह स्थल आबाद और खुशहाल बना रहे । इस भावना को लेकर मैं घर से बाहर भटक गया हू और मैंने सबके लिए सुख की कामना की है । उसी मे जोर पड़ने पर सिगरेट और शराब आ गए तो आ गए, अन्यथा मैं उधर जाना नहीं चाहता था । जो गया एकबार उसे लौटना सभव नही हुआ करता । दुप्पी ने सब सभव कर दिया है । उसने जानवर को आदमी बना दिया है । आप चाहिए तो मुझसे उसे छीन लीजिए । आपकी कन्या है, आपका सब है । लेकिन मैं अपनी तरफ से उसे छोड दूगा तो रह ही कहा जाऊगा । मेरे लिए एक वही है । दूसरा कही कोई ठौर-ठिकाना मुझे नही है । अब आप क्या करते

हैं, समाज क्या करता है, राज क्या करता है—इसमे मैं क्या कह सकता हूं ? मुझे अगर जीना है, जीते रहना है तो कोई कुछ करे, मेरे लिए दूसरा रास्ता नही है। आपका बाप का हक है, मेरा कोई हक नहीं है। जानता हू पति हू और पत्नी जीवित है । और मैं भरसक अपनी छन-छाया उस बिचारी भोली विमला पर से हटाना नही चाहता। इसी-लिए तलाक की बात नही सोची और अब भी सोचना टालना ही चाहता हू। लेकिन अगर और राह नही है तो आप से सौगन्ध खाकर कहता हू कि मानसिक या शारीरिक या कहिए तो आर्थिक कोई संबंध उधर नही रखूंगा और परिपूर्ण पार्थक्य का पालन करूंगा। लेकिन मुझे जीने दीजिए। सभव हो सकता है कि निकम्मा ही मैं न निकलूं और कुछ काम की किरणें भी मुझसे फूट निकलें। बाबूजी, मैं आपका हूं, मुझे अपना बनने दीजिए। मैं दुष्ट नही हू, अपराधी नही हूं। लेकिन कभी लगता है कि रास्ता मुझे नही मिलने दिया गया तो मैं सब कुछ, सभी कुछ बन सकता हूं। सच कहता हू, बाबूजी, इस वक्त कुछ मुझ से बाहर नहीं है। देवता भी बाहर नही है और दानव भी बाहर नहीं है। कुछ और मतलब न लीजिएगा। लेकिन हत्या भी करनी पड़ जायगी तो इन हाथो से हो सकेगी। यह मैं बिल्कुल संभव और आसान मानता हू।"

"अजीत !"

राजकुमार जी ने देखा कि अजीत टूटने के किनारे आ गया है। जाने कैसे वह अपने को और अपने आंसुओं को थामे हुए है।

सम्बोधन सुनकर अजीत चौंका। वह एक क्षण सूना सा सामने देखता रहा। जैसे आखों मे दृष्टि न हो या आंखों के पीछे की समझ मे से सुध-बुध गायब हो गई हो। फिर वह सहना उठा और राजकुमार जी के चरणों में गिर कर फूट उठा, "मेरा कोई नहीं है, कोई नहीं है, बाबू-जी ! मेरी रक्षा कीजिए।"

राजकुमार जी पसीजे और गल कर इतने बने कि पाठ बन गए।

उनको कुछ सूझा नहीं। तभी एक हाथ बढ़ाकर उन्होंने बटन को दबा दिया। जोर से दबाये रहे। घर के अंदर बजती हुई घंटी की आवाज इस कमरे तक साफ कानों में आकर पड़ती थी। अजीत ने भी वह गूंज सुनी। वह तनिक घबराया।

राजकुमार जी ने कहा, "बेटा उठो, द्रौपदी आती होगी।"

द्रौपदी आती होगी। क्या सचमुच वह आती होगी?·· अजीत राजकुमार जी के चरणों में से उठा और झटपट उसने सर्वथा स्वस्थ हो जाना चाहा।

"बेटा, ठीक बैठ जाओ। मुंह-उंह पोंछ लो। तुम्हें स्वस्थ और प्रसन्न दीखना चाहिए। है न?"

अजीत ने जल्दी अपने कपड़े संवारे और आगे बढ़कर आलमारी के शीशे के सामने जाकर बाल-वाल ठीक किए और संभल कर गहरी एक काऊच में निश्चितता के साथ हो बैठा।

तभी द्रौपदी ने कमरे में प्रवेश किया। राजकुमार जी की उधर ही निगाह थी और अजीत की जानबूझ कर पीठ थी। द्रौपदी एक क्षण ठिठकी। फिर आंधी की तरह भागती हुई आई और दोनों बांहों से बैठे हुए अजीत की गर्दन में झूल पड़ी। उच्छ्वास के साथ बोली, "भाई साहब!"

राजकुमार जी आंख में भर कर आते हुए आंसुओं को रोककर हठात् आंखों को पोंछते हुए चुपचाप कमरे से बाहर निकल आए। उन दोनों को मालूम भी नहीं हुआ। बाहर आते ही उन्होंने दरवाजे की चटखनी लगा दी।

घर के अन्दर पहुंचे तो घर की मालकिन ने पूछा, "क्या हुआ?"

बोले, "कुछ नहीं। सब ठीक है। दोनों अन्दर हैं।"

"यह क्या गजब कर दिया है तुमने!"

"फिकर न करो। बाहर से चटकनी बन्द है।"

* *

आधे घंटे बाद कमरे के दरवाजे पर अन्दर से लगातार थप्-थप् की आवाज आती ही चली गई तो दरवाजा खोलना पड़ा। दोनों के चेहरे पर स्वर्ग लिखा हुआ था। अजीत ने राजकुमार जी के पैर छुए, माताजी के भी पैर छुए और कहा, "द्रौपदी का कोई भाई नहीं है, सब बहनें ही हैं। आज से सामने यह सगा भाई इसका खड़ा है। इस बात को आप लोग कभी न भूलियेगा।"

अजीत की आंखों में आंसू थे और वह हंस रहा था। 

जुलाई '६३

छः पत्र, दो राह

(१)

प्रिय विम्मी !

तुम्हारे पास से आने मे मुझे शाम हो गई थी। बहुत अच्छा लगा था और मन लौटकर किसी दुनिया के काम-धाम के लिए बाकी नही बच गया था। मैंने कहा था कि मीटिंग है, लेकिन मीटिंग मे मैं नही गया। सब तुच्छ लगता था और तुम लोगो की खुशी को देखकर जो खुशी मैं अपने मन में भरकर लाया था, उसे बखेरना नही चाहता था इसलिए शाम का सब कार्यक्रम टालकर मैं चुपचाप पाव-पाव पास गाधी समाधि पर चला गया। वहा एक तरफ घास पर तब तक बैठा रहा जब तक उठना जरूरी नही हो गया। समाधि शान्त थी और धीमे-धीमे नीरव भाव से उतरती हुई सन्ध्या बडी सुहावनी लग रही थी। जैसे छू कर और छन कर मेरे भीतर ही उतरी जा रही हो। मुझमे बड़ा सुखद उजाला था। लेकिन विम्मी मैं नही जानता कि कैसे धीरे-धीरे मुझमें एक अधियारा छाता चला गया। जैसे कोई भार चित्त को दबा रहा हो। मैंने याद किया, तुम दोनो की उन किलकारियो को, उधम को, दंगे को, मस्ती को, जो मेरी उपस्थिति तुममे और उमगा देती थी, रोक तो क्या पाती। तुम पीछे से आकर कुर्सी पर बैठे नीरज के कधों पर झूल गई थी। तुमने उसके बालो को सहेजा, फिर धीरे-धीरे तुम्हारे हाथ उसके कानों की लौरी को सहलाने लगे। फिर वे उगलिया उसके गालों पर घूमी और मानो फिर ओंठो को पुचकारने लगीं। तभी तुमने एकाएक झुककर उसके बाएं कान की कोर को दातो के बीच देकर काट डाला। नीरज 'मी' ! करके जो उठा तो उसने तुम्हारी हाथ की उगली

को पकड़ कर चबा लिया ! तुम दोनों बिगड़े और फिर खिलखिला पड़े। सच मानो तो ये सब देखकर मैं धन्य अनुभव कर रहा था। लेकिन फिर भी जाने क्यों, घनी और गहरी होती हुई सांझ के साथ मुझ पर एक भारीपन बैठता चला गया और मेरा मन जाने कैसे त्रास-से भर गया।

गांधी-समाधि से लौटने में मुझे रात हो गई। मैं खाना नहीं खा सका और पत्नी ने पूछा, तो कुछ बता भी नहीं सका। वह नाराज हुई और बिगड़ी और मैंने झिड़क दिया। उनकी आदत तो नहीं है कि मुझे सहज़ा छोड़ दें। लेकिन इस बार उन्होंने कुछ जिद नहीं की और मुझे अकेला छोड़ दिया। अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं किसी से बात नहीं कर सकता था। मेरा मन इस पर भारी था कि जिस प्रसन्नता को अपने झोली में भरकर मैं तुम्हारे पास से लाया था। वो जाने किस विध गहरे विषाद में बदल गई थी और मुझे थाह नहीं मिल रही थी। जैसे मैं डूबा जा रहा था, और वह तल न आता था, जहां मान लूं कि बस अन्त है, पीड़ा आगे नहीं जा सकती।

सोया तो मैं अवश्य, लेकिन आंख जल्दी खुल गई। अब चार बजा है। मैं बिस्तर पर हूं, कमरा अकेला है और तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूं। जानता नहीं मैं क्या चाहता हूं। शायद कुछ भी नहीं चाहता हूं! उपदेश तो दे ही नहीं सकता। उम्र में बड़ा हूं, काफी बड़ा हूं, लेकिन अब तक यह नहीं सीख पाया हूं कि जवानों की जवानी कोई दोष है या वह किसी तरह हल्की अकलमन्दी है। अनुभव को और वय को मैं बहुत महत्व नहीं दे पाता हूं और मुझे लगता है कि भीतर से आता हुआ प्राणों का वेग जो सकोरों को नहीं देख पाता, नहीं मान पाता, तोड़ता-भागता हरियाली…सा लहलाता हुआ बहता ही चला जाता है, कम मूल्य-वान नहीं है। लेकिन दिखना, मेरे मन में विथा होती है और मैं इस पत्र के लिए क्षमा चाहता हूं।

मेरे आने के बाद तुम वहां कितनी देर रह पाई होगी। पहले दो

घन्टे, तीन घन्टे ! फिर तो तुम्हें जाना ही पड़ा होगा। आखिर तुम्हारा घर है और वहां दो प्यारे-प्यारे बच्चे हैं। पति हैं, लेकिन एक बार उन्हें छोड़ भी दो, क्योंकि वह अपने लिए और तरह की व्यस्तता ढूंढ सकते हैं। दिन में कारोबार है, शाम को क्लब है और 'लेकिन वह छोड़ो ! पर बच्चे तो तुम पर हैं ! तुम नहीं पहुंचोगी तो नौकर से लेकर खाना-पीना तो वे अपना तब भी कर लेंगे, देर हो जाएगी तो शायद बिस्तर पर पहुंच कर लेट भी जाएंगे। लेकिन क्या उन आंखों में नींद आयगी ? क्या वे अपनी मम्मी की राह ही देखते नहीं रहेंगे ? इसलिए आखिर तुम घर गई ही होगी। शायद हो कि खाने के वक्त से पहले पहुंच गई हो और बच्चों के प्यार में एकाध चीज अपने हाथ से भी बनाई हो। फिर उनके साथ होकर तुमने भी कुछ खाया-पीया हो और उन्हें कहानी लोरी सुनाई हो। जरूर तुमने यह किया होगा। क्योंकि तुम्हारा मन प्यार से भरा है और बच्चों की उस मन में बड़ी ममता है। लेकिन मैं सोचता हूं और मन भारी हो आता है। समझ ही नहीं पाता कि इन दोनों खुशियों को तुम एक में समाकर कैसे संभाल पाती होगी। क्या दोनों मिलकर तुम्हारे भीतर दुस्सह व्यथा का निर्माण न कर देती होंगी।

विमला, मैं विवाह का प्रहरी नहीं हूं। उस कर्तव्य में प्रेम का निन्दक भी नहीं बन सकता हूं ! लेकिन सच बताना, बच्चों के पिता रात को क्या जल्दी आ गए थे ? मैं जानता हूं कि वह जल्दी नहीं आते ! जानबूझ कर जल्दी नहीं आते ! सब सो जाते हैं, तभी वह घर में आते हैं। ऐसे कि जैसे मेहमान हों, जैसे चोर हों ! वह पति हैं, पिता हैं, उन्हें अधिकार है, सब स्वत्व उनका है। लेकिन नहीं आते हैं घर पर और दूर-दूर दुनिया में रहते हैं और वहीं दूर से घर में सामान और सुविधाएं जुटाते रहते हैं। इसलिए कि वह किसी सुख का भी उपभोग न कर सकें और तुम्हें किसी तरह का कष्ट न हो। तुम उस ओर से तनिक भी विघ्न न अनुभव करो ! मैं उन्हें जानता हूं, तुम

जानती हो ! और मैं बेबस सोचता हूं कि क्या ये सब तुम्हें बहुत भारी न हो आता होगा ? सचमुच मुझसे इस समय सहा नहीं जा रहा है और तुम्हारे प्रति सहानुभूति से मन उमड़ा आ रहा है। तुम अत्यन्त स्वाभिमानी हो। ऐसे पति का आश्रय तुम अगर छोड़ नहीं पाती हो तो मैं जानता हूं इसके लिए तुम्हारे मन में कितनी गहरी कृतज्ञता का भाव होगा। तुम शायद पतित्व नहीं दे पाती हो, फिर भी पतित्व उनका अपने ऊपर धारण किए हुए हो। सोचता हूं और मन अपने में रुकना नहीं चाहता, रोना चाहने लगता है।

माना हो विमला तुम और बच्चों की ममता है। लेकिन इतना ही भर नाता तुम इस घर से अगर अनुभव करती हो कि जिसमें तुम अपना जीवन बिताती हो, जहां से अपने सब आश्रय लिए सब सुविधा प्राप्त करती हो, तो विम्मी, सोचो कि यह काफी है ? ये क्या उचित प्रतिदान है ? और यदि प्रतिदान की अपेक्षा दूसरी ओर से नहीं है तो क्या इसी कारण से और भी अनुचित नहीं हो जाता है ?

और क्या लिखूं ? लिखा नहीं जाता है।

तुम्हारा,
रा० द०

(२)

मान्यवर,

मैं आपके पत्र के लिए आभारी हूं ! लेकिन माफ कहिए, आप क्या कहते हैं। मैं नहीं करूंगी ! मैंने आपको माना है। आप मुझे आदेश क्यों नहीं दे सकते हैं। देखिए देखिए ! नहीं होगा !

मैं कुछ नहीं जानती ! दिन का काम बढ़ता है और मुझे सार काम किया नहीं करती कि काम बढ़े उनको छुट्टी हो जाएगी। साढ़े पांच बजे घर आयेगा। तब उसकी चाय का क्या होगा ? नौकर तो नहीं है, लेकिन फिर भी आत्मसम्मान का क्या होगा ? पर मुझ देखना और उसके

इधर-उधर जाएगी—तो तब क्या होगा ? और मुझसे रहा नहीं जाता है और मैं वहा पहुच जाती हू। क्योकि वह अकेला रहता है और कमरा बहुत सूना है और उसका कोई नही है। चौके मे लगकर कुछ उसके लिए तैयार कर देती हू। लेकिन ज्यादातर वापस जल्दी आ जाती हू। क्योकि घर मे फिर आकर बच्चो के लिए अपने हाथ से कुछ बनाना-बनूना होता है। कभी अवश्य ऐसा होता है कि उसकी आख मे जाने क्या देखती हू कि जा नही पाती हू। वह बड़ा मचलता है और बड़ा ढीठ है और मुझे रुक जाना पड़ता है। क्या यह सब मैं ठीक समझती हू या पसन्द करती हू ? या मुझे अच्छा लगता है ? लेकिन मैं सब भूल जाती हू और सचमुच फिर समय भी भूल जाता है और कभी तो रात काफी देर से पहुच पाती हू। घर तो है ही, और वह सबसे बड़ा कर्तव्य है। उस कर्तव्य मे त्रुटि मैं भरसक नहीं करती। लेकिन उसको निबाहते हुए अगर सुख की बूद एक राह मे मिल जाती हो। तो क्या सूखे कंठ मे उसका अपमान करती हुई मैं निकलती चली जाऊ और उसी में कृतार्थता मानू ? अगर ऐसा नही करती हू तो क्या सब आप भी मुझे दोष देंगे ? गिरस्ती एक जूवा है और कन्धे पर लिए-लिए आरों को सब ओर से बचाकर मैं अब तक उसे ढोए चली गई हू। आप जानते हैं कि एकाएक मेरी आग खुली तो कैसे खुली ? बताइए कि मैं फिर अपने को रोक सकती थी ? कर्तव्य का चक्कर अगर था तो उनके लिए भी न था, सिर्फ मेरे ही लिए था ? या तो दोनो के लिए था ! नहीं था तो मेरे लिए भी नहीं है।

आप सच कहिए ! दर्शन नहीं, विचार नही, फैसला दीजिए ! दो टूक जो हो वह डालिए ! प्यार और व्याह की गोल बातें न कीजिए। तात्विक विवाद मे से कुछ नही मिलता। मैं प्यार को नहीं जानना चाहती। विवाह को भी नहीं जानना चाहती ! ये शब्द हैं और मेरे पल्ले मैं स्वय हूं। उस निजता को लेकर मुझे द्विविधा मे न डालिए। मेरे मन मे काट-फास न पैदा कीजिए ! देखिए, आप ही कहते थे कि

पाप नहीं है ! फिर ऐसा न कीजिए कि पाप पैदा हो और मेरा मन मुझे ही डंक मारने लगे । आपकी चिट्ठी मुझे इसीलिए डराती है । मेरा दिन मजे में निकल जाता है और उसकी शामें जो मैं इस घर में नहीं, उस घर में बिताती हूँ, मुझे अपने दिन से बिछुड़ी नहीं मालूम होतीं । फिर यह आप क्या लिख रहे हैं ? कहीं तो किसी को कुछ शिकायत नहीं है । मन तक में नहीं है ।

मैंने आपको आग्रह-पूर्वक अपने उस घर में क्या इसलिए बुलाया था, क्या आप भी उत्सुकता पूर्वक इसलिए आए थे, कि मेरे मन में संशय का कीड़ा डाल दें ? नहीं, नहीं ! मैं यह सब नहीं लेना चाहती ! सहानुभूति नहीं लेना चाहती ! प्रसन्नता ही ठीक है । वही आपस में ली-दी जाती है ! हमारी प्रसन्नता में से अगर आप प्रसन्नता ही लेकर तुष्ट हों तो हमें याद रखिए । नहीं तो भूल जाइए !

आपकी,
बिम्मी

(३)

प्रिय विमल !

तुमने मुझे ठीक शिक्षा दी ! यही तो चाहता था कि उमर से अकल नहीं आती ! बड़े नसीहत देने लग जाते हैं । यह नहीं सोचते कि यह दूसरे की जिन्दगी में दखल देना हो सकता है !

लेकिन बिम्मी, मैं सामाजिकता और नैतिकता की बिल्कुल नहीं सोच रहा हूँ । न नीति समाज इतनी कच्ची चीजें हैं कि मुझसे या तुमसे टूटें । जो अमोघ है वह अमोघ है ! इसलिए उस चिन्ता में मैं मर रहा हूँ, या जी रहा हूँ, यह तुम कभी न सोचना ! बात दूसरी है और वह यह कि मैं तुम्हारे विवाह में शामिल हुआ था । विवाह को दो वर्ष हो गए और हम सब भी चाहते हैं कि तुम अपनी उमर भूले रहो । लेकिन दुनियाँ भी उमर याद रखती है ! तुम शादी से उस पद न होगी ।

तुम्हारा घर है, परिवार है। भावना में अवश्य सब एकाकार हो जाता है, लेकिन भावना से यथार्थता कटती नहीं है। यथार्थता के तल पर भेद भेद ही है। और ये भेद जब भावना ढलती है इतने उभरते और चुभते हैं कि उस कष्ट को बचाना ही चाहिए। मर्यादा ये समाज की है इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि ये यथार्थताएं हैं उनका ध्यान रखना पड़ता है। आज भूलने से जो कल उन्हें फिर याद करना पड़ जाएगा तो वह याद सहज न रह जाएगी, तीखी बन आएगी। इसलिये यदि कुछ कहता हूं तो कहता हूं। बुरा न मानना !

उसके जीवन को सोचती हो कभी कि जो तुम्हें प्यार करता है और जिसे तुम प्यार करती हो ? अभी नया खिलता जीवन है उसका। तीस वर्ष की उमर होगी। कितना सुन्दर नौजवान है। देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। तुम्हारी आंखें उस रूप पर मोहित हुईं, तो वे आंखें कौन हैं जो नहीं होती होंगी ? और उस युवक के लिए मेरा मन सराहना से भर जाता है। जब देखता हूं कि उसने तुमको चुना, और जबकि इतना संसार उसके सामने खुला पड़ा है। तब भी तुम्हीं पर टिका हुआ है ! अब सोचो विमल, उसकी तरफ से सोचो ! उसको क्या अपना घोंसला या बसेरा नहीं चाहिए ? शाम तो ठीक है, लेकिन रात को अगर उसे कुछ हो जाए, क्या इस अंधेरे में तुम अपने बच्चों के पास सोने से इन्कार कर दोगी ? सुनो विमल, तुम्हारी सुन्दरता कब तक थमेगी ? उमर का अन्तर कब तक दबेगा ? इन यथार्थताओं को कभी न कभी पहचानना ही होगा। भूले रहने में जब तक चलता है, तभी तक चलता है। अन्त तक नहीं चलेगा ! नहीं चलेगा, नहीं चलेगा !

लेकिन तुम अपने लिए सोचो ही क्यों ? मान लेता हूं कि तुमने वह कीमिया सिद्ध कर ली है कि यौवन तुममें कभी उतरेगा ही नहीं ! उमंग सदा ही बनी रहेगी। जादू उड़ेगा नहीं, तुम्हारी आंखों में बसा ही रहेगा ! लेकिन सोचो उसकी तरफ से। क्या उसे कभी इसकी भी जरूरत न होगी जिस पर पहले नाज़ उठेंगे सारे और बुढ़ापे में जिस

पर सुहाग डाल सके ! क्या उसे कभी पत्नी की आवश्यकता न होगी जो प्रेयसी न हो, दासी भी हो ! शासिका न हो, शासिता भी हो ! क्या तुम उसे बच्चा दे सकती हो ? पत्नित्व दे सकती हो ? कभी बात कर देखो, पूछ देखो ! चालीस वर्ष से ऊपर की पत्नी को तीस वर्ष की अवस्था में वह स्वीकार करेगा ?

मैं स्वप्न को बहुत मानता हूं ! माया को भी मानता हूं ! मानता हूं, यह ब्रह्म का ही मनोरम रूप है ! वही व्यक्त है। मूर्त रूप में वही सत्य भी है। लेकिन माया टूटेगी और फटेगी तो क्या होगा ? भ्रम भ्रम लग आयेगा तो क्या होगा ?

क्या उस रोज की याद दिलाऊं ? तुम आई थीं और रो रही थीं। मैं किसी तरह तुम्हें सान्त्वना नहीं पहुंचा सका था। आखिर तुम्हारा कष्ट यही तो था कि वह तुमसे तुमको नहीं, जाने किसको चाहता है ? तुम पर प्रगट हो आया था कि उनकी खोज जिसके लिए है, कभी वह पूरा उसे तुमसे बीतनी कठिन हो जाती है और उसकी आग तुमसे इधर-उधर दौड़ने लगती है। विमल, ऐसा होगा और जैसे समय बीतेगा बार-बार होगा ! बहुत बार होगा और हर बार तुमको रोना पड़ेगा ! मैं डरता हूं ये चीज कहीं इस हद तक न पहुंचें कि जहां प्यार है, वहां नफरत हो जाए ! मुझसे यह डर दूर नहीं होता है। मगर मैं हरगिज नहीं चाहता कि वह डर तुममें पैदा हो, मगर जानता हूं कि वह होन-हार है और अन्त तक उससे बचाया नहीं जा सकता !

प्यार की सोचो, या सुख की बूंद की सोचो, यह अभी नहीं कहता हूं ! लेकिन प्यार जिस वजह से है और सुख जिस वजह से लगता है, वह वजह ही मिट जाएगी। तब क्या होगा ? क्या यह सोचा है ? क्या सच ही तुम समझ पाओगी तो आशा हो सकती है कि समय पर सब बीच ही आस्था और आगे या नरक बन जाएगा ?

तुम्हारा,

[illegible]

(४)

मान्यवर !

पत्र मिला ! क्या ठीक हो जाएगा ? मैं नहीं मानती कि मेरे साथ कुछ भी बेठीक है। आप अपनी मेहरबानी को अपने पास रखिए। अपना ज्ञान, अपना उपदेश भी पास रखिए ! आपको जानना है, मुझे जीना है। आप जानने को ऊपर रख सकते हैं। मैं जीने से अपने लिए फुर्सत नहीं निकालना चाहती हूं।

आप अब मेरे बारे में कुछ कष्ट न कीजिए ! कहीं पतिदेव तो आपको इधर नहीं मिलते रहे हैं ? ऐसा ही लगता है। अब मिलें तो कहिए कि करनी भोगनी भी होती है।

आपकी,
विमला

(५)

विमल !

प्रिय नहीं लिखता हूं ! शायद तुम चाहोगी नहीं। पंडित जी मिले हैं, कई बार मिले हैं ! पर प्रशंसा के अतिरिक्त तुम्हारे सम्बन्ध में एक भी अन्यथा शब्द उनके मुंह से नहीं निकलता ! वह अवसर भी तब आता है, जब दूसरे हठात् उसे बना ही डालते हैं। वह प्रायश्चित पूर्वक नहीं बल्कि उदारतापूर्वक तुम्हें लेते हैं, यह मैं तुम्हें कैसे बताऊं ?

सुनो ! मालूम हुआ है कि मकान तुम्हारे अपने पैसे का है। यानी तुम समझ सकती हो कि वह तुम्हारे पति की कमाई का नहीं है। मुझे दुःख होगा अगर तुम्हारे व्यवहार में यह मान भी कारण बना होगा। मुझे गलत मत समझना ! जीने वालों में सफलता से जीने का प्रमाद करने वालों में मैंने तुम्हें देखना चाहा है। इसीलिए तुम्हारे लिए सदा मन में संभ्रम का भाव रखा है। किसी नीति-नियम के नाते वह भाव वहां से हटने वाला नहीं है। लेकिन यह अब भी आशा है कि तुम

निराशा से बचोगी, निराशा का सामान पैदा करने से भी बचोगी। भगवान तुम्हें सुखी रखे।

तुम्हारा,
रा० द०

(६)

श्री रा०…द०

पन्यवाद! बस!

विमल

अगस्त '६३

जीना-मरना

पति ने कहा, "आज मंगलवार है। चौथा रोज हो गया बुढ़िया को अस्पताल गये! हम अब तक जा नहीं सके हैं। जाने क्या हाल होगा? आज जरूर चलना है, चार बजे।"

पत्नी बोली, "आज? आज तो साढ़े तीन बजे शान्तिलाल जी के यहां सगाई है। खुद आये थे, बहुत बहुत कह गये हैं। नहीं जायेंगे तो बुरा मानेंगे। और हरदम पड़ोस का सवाल है।"

"लेकिन…।"

"परसों तो रग्घो गया ही था। कहता था पहले से तबियत सम्हली बताती थी। कल चले जायेंगे।"

"बिचारी तीन दिन से राह देखती होगी। उसका कौन बैठा है। और मैं समझता हूं, यह उसका अन्त समय है।"

"अब कल चलेंगे। या तुम ऐसा करो कि सगाई निबटा कर पांच बजे अकेले चले जाओ। मुझे तो छुट्टी मिलेगी नहीं।"

"पांच बजे से तो काका के जन्मदिन का उत्सव है। टाल भी जाता, लेकिन उन्होंने छाप दिया है कि अध्यक्षता मुझे करनी है। ऐसा करो कि चार पर चलें, जरा देर कर साढ़े चार तक आ जाएं।"

"नहीं, नहीं! शान्तिलाल जी तो बल्कि हमें साढ़े तीन पर ही बुला रहे थे। अब तो कल ही रखो।"

पति बेचारे के लिए उपाय न रह गया। बुढ़िया अस्पताल में लिए ले जाई जा रही थी, तब के उसके चेहरे का उन्हें ध्यान आया। वह जाना नहीं चाहती थी। उनकी पत्नी से हाथ जोड़कर विनय कर रही थी कि दो-चार दिन यहीं पड़ी रहने दो। मरना तो है ही, अस्प-

तान जाकर ख्वारी कराने से क्या फायदा ! लीलाधर के मन मे हुआ था कि एम्बुलेंस की जो गाडी मंगवाई है, उसे वापिस कर दिया जाय। लेकिन दिल्ली शहर मे जगह की बडी तगी है। सेवादार भी नही मिलते है। सुखिया कोई नाते रिश्ते मे तो है नही। ठीक है कि अभागिन है, कोई उसे पूछने वाला नही है। लेकिन एक कमरा उसी के निमित्त कैसे और कब तक रखा जा सकता है ? सच है कि नाहक का बोझ आ गया। डेढ़ एक महीने से पडी थी वहा और भुगत रही थी। जैसे-तैसे कारड पर दो सतर लिखकर मेहतर के हाथ डलवाया था। कार्ड पढ़कर वे देखने चले गये, बेहाल देखकर तय किया कि अस्पताल भेज देना चाहिए। फोन किया, जोर लगाया, और आखिर दाखिला मिल गया।

लेकिन तीसरे रोज नीचे से पडोसिन ने आकर बताया कि बाहर ठेले पर एक बुढिया पडी है, आपको पूछ रही है।

पत्नी ने बाहर जाकर देखा, सुखिया थी। अस्पताल के आदमी घर के दरवाजे तक लाकर ठेला वही छोड गये थे। भुनभुनाती पत्नी वापस आई कि यह क्या झमेला खडा कर लिया है ? मैं कहा रखूं उसे, अपने सिर पर ? बस, मेरे कलेजे पर आये दिन नई-नई बेगार ढोनने रहते है !

पत्नी ने कहा यह सब, लेकिन कहने के साथ ही वह बाहर गई और [illegible] कर दिया।

"खैर आप एस० एम० को फोन तो कर दीजिये।"

"वह तो मैं अभी कर रहा हूं।"

"तो देखिए, मैं खुद आ रहा हूं। फोन के अलावा मैं आपसे एक पुर्जा भी ले लूंगा। असल में केस काफी खराब है, नहीं—तो तकलीफ न देता।"

डिप्टी साहब के यहां पहुंच कर अपने सामने एस० एम० को जो फोन कराया तो मालूम हुआ कि किस्सा ही दूसरा है। मरीज को डिस्चार्ज कर दिया गया है। मर्ज खास नहीं है। दवा बता दी गई है, घर पर रहकर इस्तेमाल करती रहे, ठीक हो जायेगी।

लीलाधर अजब चक्कर में पड़े। हालत उन्हें जीने-मरने की दीखती थी। इधर अस्पताल से यह खबर आ रही थी!

डिप्टी साहब ने मजबूरी जतलाई। लीलाधर ने उन्हीं से पूछा कि बताइये, क्या किया जाय? बोले, "डाक्टर मेहरा, हेल्थ इचार्ज हैं। वह चाहें तो कर सकते हैं।"

"तो जरा उन्हीं से पूछ कर देख लीजिये।"

डिप्टी साहब के पी० ए० ने मालूम किया तो मेहरा चीफ कमिश्नर के यहां गये हुए थे। कब तक आयेंगे, कुछ ठीक कहा नहीं जा सकता। डिप्टी साहब ने अपनी तरफ से और मालूम करके बताया कि मेहरा दफ्तर एक बार आयेंगे जरूर! चार नहीं तो साढ़े चार तक सही। जरूरी समझें हों तो आप इंतजार कर सकते हैं। क्या उनके आफिस में कहला दिया जाय कि आते ही यहां खबर दी जाय? हालत संगीन आप समझते हों तो जरा इन्तजार कर लेना ही मुनासिब होगा।

लीलाधर ने कहा, "ठीक है, जरा इंतजार ही कर लेता हूं। बाहर टैक्सी खड़ी है, कोई बात नहीं, जरा दाम ही चढ़ जायेगा।"

सवा चार हो गया। साढ़े चार के करीब होने लगा। इन्तजार उसे दूभर रहा था। डिप्टी साहब अपने सामने की फाइलों पर झुक गये थे और सामने सूना बैठा कुर्सी पर वह लीलाधर की इस बेरुखी पर

विचार करता रह गया था। बाहर आधी फर्लांग दूर खड़ी टैक्सी के चलते हुए मीटर का टिक् टिक् उसे सुनाई दे रहा था। आखिर साढ़े चार की घड़ी की सुई पार कर गई तो उसने कहा, "ज़रा पूछिएगा, शायद है कि डाक्टर मेहरा आ ही गये हों।"

"जी, यह तो कह दिया गया है कि आते ही यहां खबर दें। फोन आ जायेगा, आप फ़िकर न कीजिये।"

सहसा डिप्टी कागज पर झुक गये। उसकी समझ में न आया कि फ़िक्र न की जाय तो कैसे न की जाय? श्रीमती जी को बहादुरी के साथ कह आया हूं कि अभी अस्पताल का इन्तजाम हुआ जा रहा है। यहां दिन ढल रहा है। पांच बजे दफ्तर बन्द हो जाते हैं। फिर आज खत्म है, और कल की तारीख का नसीब ही बन जाता है। मजबूरन उठकर उसने पी० ए० को आमादा किया कि वह ज़रा फोन करके मालूम तो करे। मालूम किया गया कि हां डाक्टर मेहरा आध घण्टे से कमरे में आये बैठे हैं।

डिप्टी साहब ने उस नम्बर पर डाक्टर मेहरा से बात की कि आप लीलाधर जी को जानते ही होंगे। अस्पताल में एक संगीन केस दाखिल किया चाहते हैं। आपकी तरफ़ आ रहे हैं, जो मुमकिन हो कर दीजियेगा।

डाक्टर मेहरा हंसते हुए मालूम हुए। बड़े तपाक से मिले और कहा कि बताया जाय, क्या खिदमत कर सकते हैं।

हाल बताया गया।

बाद आइयेगा, तो दाखिले का इंतजाम मैं करा दूंगा।"

"लेकिन· · ·"

लेकिन कितना ही किया जाय, बात तो ऊपर से कट कर खत्म थी।

इस तरह गुड़िया पत्नी के हाथों आ पड़ी। उसने पति को यह सुनाया, वह सुनाया कि क्या कहें। लेकिन उसके अचरज की सीमा न रही जब पांच रोज तक गुड़िया घर पर रही और पत्नी ने उसकी इतनी सेवा की, इतनी सेवा की कि कोई ढूंढ़ कर भी नहीं कर सकती थी। अजब रोग था गुड़िया का। खा कुछ सकती न थी, पेट अफरा रहता था और जी अघाया हुआ। जीभ जरूर कभी-कभी ललचती थी। एक बार नौकरानी से दही मोठ की चाट ही उसने मंगा ली। कभी अचार मांगती, कभी मुरब्बा। लेकिन जी ही ललचता था, जीभ पर इन चीजों को पाते ही अन्दर से पेट जैसे इन्कार कर देता था। खाने का यह हाल था, लेकिन दस्तों का हाल इससे उलटा था। उठ-बैठ तो वह सकती ही नहीं थी, हिलना-डुलना भी कठिन होता था। लेकिन सब देखो बेड-पैन भर ही मिलता था। पत्नी खुद साफ करती और अक्सर जो कपड़े गन्दे हो जाते, उन्हें खुद साबुन से धोती। बैठकर तरतीब से गुड़िया के पुराने कपड़े उतारना और नये पहनाना, सफाई का पूरा ध्यान रखना। दस्तों के मारे बू रहती थी, लेकिन अगर और धूप-बत्तियों का उन्होंने ऐसा इन्तजाम किया था कि कमरे में बू का प्रश्न ही न था। गुड़िया [illegible] मौत से लिपट जा रही थी। लेकिन पत्नी की सेवा पर मानो हर समय उसमें जीने की चाह नहीं रह गई थी। ऐसा लगता था कि वह मरना ही चाहती है। जीने में रस का सार नहीं रह गया है। कोई इच्छा नहीं है, कहीं और उमंग नहीं है। किसी के मन में उसकी मांग नहीं है, चाह नहीं है।

ने इन्तजाम किया था और एम्बुलेंस गाडी दरवाजे पर आ लगी थी। पत्नी का मन भी मुनिया को भेजने कट रहा था। पर चिकित्सा की व्यवस्था तो यहाँ उस तरह की हो नहीं सकती थी, न तिमारदारी का वैसा इन्तजाम था। डाक्टरों की हर समय की देख-रेख चाहिए थी। इसलिये अस्पताल भेजना भी जरूरी था। दूसरे सच यह है कि गिरस्ती का सब क्रम भंग हो गया था और पत्नी पर काम का भार इतना हो गया था कि कुछ दिन में वह खुद टूट जा सकती थीं। इससे चारा दूसरा न था। पर अस्पताल की यह यात्रा प्रिय किसी को न हो रही थी।

जाने के बाद पत्नी ने कई बार याद किया और नीनाधर को भी ख्याल आता रहा। पर जनरल फिमेल-वार्ड में मिलाई के लिए सिर्फ एक घंटा रहता है और चार से पांच तक का वह वक्त कम्बख्त जाने किन-किन दूसरे कामों और तकाजों में भर रहता था।

इसलिए शनि आया, रवि गया और सोम भी निकल गया। बीच में सिर्फ पत्नी को भेजकर तांगा उधर हो आ सकी। नीनाधर के मन में तय था कि मंगल नहीं निकल सकेगा। पर पड़ोस के लाला शान्ति-लाल जी की लड़की की सगाई आ गई। लड़की की सगाई का अवसर मामूली नहीं होता। फिर शान्तिलाल जी ने मन जोड़कर काम किया था। पड़ोसी हैं, ऐसे आते हैं और सबके काम भी आते हैं।

सोचा गया कि चलो, न सही मंगल, बुध ही सही। और नीनाधर पत्नी के साथ सगाई में शामिल हो गये।

बातें ऐसी हो गईं। एक फर्लांग तक सड़क जनानखाने से भली और इतनी ही छाई थी। बाहर से उस नाके सड़क को रोक लिया था और बिछे फर्श पर दोनों तरफ कुर्सियां लगाई गई थीं। दो हजार कुर्सियों में एक भी कुर्सी न थी जिस पर कोई न हो। दरम्यान जहाँ उधर घरों का प्रबन्ध बनाया गया था उसके आसपास कालीन बिछे थे, और इस-इस कतार दोनों तरफ रोशनी की थी। बीच में खास

बनात थी कि जिस पर अभ्यागतों के चरण पड़ सकें। पत्नी अन्दर चली गई और मैं उनमें से एक कुर्सी पर बैठ गया।

इन्तजाम की तारीफ़ करनी होगी। सॉफ्ट-ड्रिंक् के नमूनों की भरमार थी और यहाँ वहाँ ट्रे पर तरह-तरह के स्नैक्स् और ड्रिंक्स लिये चपरास बाँधे बैरे घूम रहे थे।

मैं अन्दर नहीं गया। लेकिन उत्साह से जो अन्दर जाकर लोग लौट कर बखान कर रहे थे, उससे मालूम हुआ कि चालीस हजार का तो दहेज जरूर होगा। ऊपर का खर्च अलग। रोशनियाँ इस कदर की शहर जगमगा उठे। सचमुच दावत का इन्तजाम भी जबरदस्त था। क्यों न हो, शान्तिलाल जी, दरियादिल आदमी हैं। और देखिए न कि सामने रिश्ता किस कदर बालातर मिला है, शहर के नामी जौहरी का लड़का है और उन जौहरियों के यहाँ की तैयारी तो और भी ज्यादा है।

शान्तिलाल जी की उस सगाई में पधारे हुए शहर के संभ्रान्त लोगों के उत्साह और आनन्द ने सौदागर को उकसाया। उन्हें भी सब बहुत खूब मालूम हुआ। कभी कभी घड़ी देख लेते थे। आखिर पौने पाँच बजे उठकर उन्होंने शान्तिलाल जी को बधाई दी और जाने के लिए अनुमति माँगी। शान्तिलाल जी आभार से गद्गद थे। लेकिन सौदागर जी को जाने कैसे दे सकते थे! मुँह झूठा किये बिना जाना न हो पायेगा। शान्तिलाल जी सौदागर को बाँह से लेकर, दूसरे कमरे में ले गये जहाँ उपाहार की व्यवस्था थी। शान्तिलाल जी ने आवाज देकर नमकीन की, मिठाई की, चाट की, फलों की नाना तश्तरियाँ मँगवाईं और स्वयं अपने हाथ से प्रस्तुत कीं। उन्हें अनन्तर मेज पर विविध चीजें सजा दिये। सचमुच आतिथ्य का यह आग्रह और यह आदर उन्हें प्रसन्न कर गया। उदारमनस्कता का ऐसा दृश्य कम-कम मिलता है।

सौदागर मानो इस भव्यता की [illegible] में भूले से रह गये थे। समय पाँच से भी काफी ऊपर हो गया था। तभी शान्तिलाल की ओर से एक बन्धु ने आकर कहा कि [illegible] गाड़ी है, [illegible]

हो रहा है।

जन्मोत्सव के जश्न की शोभा निराली थी। बीच में दीप-स्तम्भ था। और उसमें उन महाप्राण आयु के वर्षों की गिनती के अनुसार चार स्तरों पर दीप सजाये गये थे। सात से तीस वर्ष तक कन्याओं की तीन अलग-अलग नृत्य टोलियां थीं। इसी अवसर के लिये बनाई गई कविता के आधार पर शिशुओं की नृत्य रचना की गई थी। बड़ा सुन्दर दीखता था, उन बालिकाओं का परिधान। अन्त में गरबा नृत्य हुआ था। उसकी मनोहरता से हम सभी विभोर हो आये थे। लीलाधर मन्त्रमुग्ध से इस शोभा को निहारते रहे। लोगों में बड़ा उत्साह था और दृश्य अत्यन्त भव्य था।

लीलाधर मध्य में बैठे थे और समग्र नृत्य-वाद्य का एक कार्यक्रम चल रहा था। इतने में बराबर से डा० मेहरा का आगमन हुआ। लीलाधर को विस्मय हुआ कि डाक्टर स्वयं उनकी तरफ आ रहे हैं। उन्होंने पूछा कि उस रोगी का क्या हाल है? लीलाधर ने कहा कि संभल ही रहा होगा। लड़का गया था, आकर उसने बताया था कि तबियत में सुधार हो रहा है।

मेहरा ने कहा, "बड़ी खुशी की बात है। मैंने एम० एस० से मालूम किया था कि रोग विशेष नहीं है, डिस्चार्ज पहले इसीलिए किया गया था। और अब फिर दो-तीन रोज में डिस्चार्ज मिल सकेगा, ऐसा उनका ख्याल था।"

लीलाधर ने कहा कि वह तो केस होपलेस मान रहा था।

"जी, नहीं। मैंने खुद मालूम कर ली थी सही पूछ गई है। दो रोज में आराम करके ठीक होकर आ जायेगा।"

लीलाधर ने मेहरा का आभार माना और भीतर से बहुत प्रसन्न हो उठे। शायद यह सबसे दूसरा कार्यक्रम था। एक नया दृश्य था। कार्यक्रम मर्मस्पर्शी था। आत्मप्रशंसा सा लगता था कि लीलाधर को उनसे सन्तोष आता है। क्या मालूम था कि जन्म-समारोह इतना बड़ा बनेगा!

उसने इसी से ऐतिहासिक साढ़े छः का समय दे दिया था। साढ़े छः होने जा रहा था। लेकिन बिना भाषण में दो शब्द कहे उसे छुटकारा न था। सामने नृत्य का कार्यक्रम चल रहा था। इतने में देखा कि एक सज्जन आये हैं और पास आकर उन्होंने उसके हाथ एक पुर्जा थमा दिया है। लिखा है कि ग्रन्थमोचन के समारोह की ओर से आ रहा हूं। गाड़ी लाया हूं, फौरन चलना है।

बाद आध घंटा और लगा। अनिवार्य कुछ आइटम् बीच में हुए। सीम्पोजर को बोलना हुआ और तब छुट्टी लेकर ग्रन्थमोचन के कार्यक्रम के लिए रवाना हुआ जा सका।

स्थान बहुत ही भव्य था और बाहर खड़ी कारों की गिनती न थी। एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था और लेखक को बधाई देने नगर के सारे वर्ग के बड़े से बड़े लोग उपस्थित हुए थे। वातावरण सम्भ्रान्त था। साहित्य पर सम्भ्रान्ति दिखती है और संस्कृति भी वहां सजी होती है। ग्रन्थ उसकी ओर भारी नहीं था। दार्शनिक था और इतिहास का उसमें गहरा मनन-चिन्तन था। स्थान नगर से बाहर कई मील की दूरी पर होगा और इसलिए गिने-चुने लोग ही उपस्थित थे। उन्हीं [illegible] चर्चा रख गई और रचना नित्य नैमित्तिक और दैनंदिन से मुक्त होकर व्यापक विराट् तक उठ आई। बस औपचारिक आयोजन था। और अन्त में लेखक ने जो कहा वह अत्यन्त मार्मिक और गूढ़ थे। लेखक विश्वविद्यालय में अपने विभाग के अध्यक्ष ही नहीं थे, बल्कि अपनी विद्या के रूप विख्यात, स्कूटचन [illegible] आदि [illegible] थे। [illegible] ने अपनी भावात्मक और अध्यात्मिक [illegible] की [illegible] की ओर [illegible] की स्तुति में सभी बनाकर अपनी ओर से कुछ शब्द कहे।

बाद खान-पान का कार्यक्रम था। उस व्यवस्था की जितनी तारीफ की जाय कम है। अत्यन्त रुचिकर मेनू था, वातावरण परिष्कृत, स्थान सुन्दर और प्रबन्ध व्यवस्थित। कोई साढ़े दस बजे वहां से छुट्टी हुई। कुछ देर लोगों से मिलने जुलने में लगी और [illegible] पर आया

हुआ ।

घर पर सोने की तैयारी ही कर रहे थे कि दरवाजे पर आहट हुई । बुरा मालूम हुआ कि यह किसी के लिए क्या समय है ! पर दरवाजे पर आने के साथ नीलाधर के हाथ में तार दिया गया । उन्होंने देखकर कहा कि यह नाम हमारा नहीं है, किसी दूसरे का तार है ।

"नीलाधर जी का यही घर नहीं है ।"

"लेकिन तार पर मेरा नाम नहीं है ।"

"जी, अस्पताली तार है और आपके यहां देने को कहा है ।"

तार लिया और खोला । लिखा था—मुनइया मर गई है । शरीर उठा ले जाइए ।

ग्यारह बज गया है । रात अंधेरी है । तार हाथ में है । मुनिया मर गई है । शरीर को उठा मंगाना है ।

नीलाधर तार को हाथ में लिये रह गये ।

रात अंधेरी है पर पड़ोस में बिजली की रोशनी जगमगा रही है, कारण अग्रवाल जी के यहां दिन में सगाई हुई है, नाच गाना-बजाना होगा । [illegible] ।

नीलाधर अन्दर आये । चुपचाप तार पत्नी को दिया ।

पत्नी ने पढ़ कर कहा, "क्या होगा अब ?"

"अब क्या होना है ।"

"अस्पताल वालों से कह दो कि क्रिया-करम तो हो सकता है । पैसा हमसे ले लें । कहां हम लोग अर्थी-वर्थी का आडंबर करते फिरेंगे ।"

"मुनिया और गांव में [illegible] रही होगी, कोई आयेगा, कोई जायेगा । जाने कैसे बात निकले तो ।"

"ऐसे क्या सोचते हो कि कुछ हो नहीं सकता । जाने दो तब कहो कि क्या होगा ? अस्पताल वाले क्या सब नहीं कर-करा सकते ?"

"कोई न पूछेगा लाश को तो अपने आप ही सब करेंगे ?"

"हां हमारे पर यह झंझट न होगा । [illegible] आगे कहा-सुनी में यह

चक्कर आ जाते हैं।"

लीलाधर चुप ही थे। सोचा कि हाँ, सब चक्कर ही है। सगाई-ब्याह का चक्कर, जन्मदिन के उछाह का चक्कर, तदनन्तर के पठन-प्रकाशन और विज्ञापन का चक्कर। और सबके अन्त में यह मौत का चक्कर! लेकिन मौत पर भी चक्कर समाप्त नहीं है क्योंकि मरने से मरने वाले की छुट्टी हो जाती है, जीने वालों को छुट्टी कहाँ है?

"क्या सोच रहे हो? यहाँ तो अस्पताल वालों को भी हम कुछ नहीं जानते।"

लीलाधर ने सोचा कि ठीक पत्नी की बात ही है। जो मुर्दा हो गया है, उसके कोई क्यों जानेगा, या उसका कोई क्या जानेगा?

"खड़े हो, फोन से क्यों नहीं कह देते हो अस्पताल वालों को।... या चलो, चुप मार जाओ। अपने आप करते फिरेंगे।"

पत्नी को लीलाधर ने देखा। यही थी जो अबला और [illegible] सुनिया के देह की अन्त समय हर तरह की पट्टियाँ करती रही थी। देह वह मैली थी, [illegible] सब तरफ से सिकुड़ आई थी। वह देह अपनी भी तनिक न संभाल सकती थी। उसमें मानो हिलना-डुलना भी भी शक्ति न थी। मुर्दा देह में वह शक्ति जीर्ण और बेकार थी। पर उसी को पोंछना, कपड़े पहनाना, उसके शृंगार-पटार और अन्य [illegible] के साथ करने में इस पत्नी को तनिक आलस्य न आता था। शायद सुनिया जीकर फिर आ जाती और उसके हाथों पर [illegible] तब आनन्द हो जाता। लेकिन उन्होंने [illegible] से कहा, "[illegible] देना जानती हो तो क्यों नहीं [illegible] से ही [illegible] करते?"

लीलाधर पत्नी को देखता रहा।

पत्नी ने कहा, "और तुम कुछ न करो तो क्या होगा?"

"[illegible] और [illegible] करेंगे, फिर [illegible]।"

"तो छोड़ो, जाने दो। [illegible], [illegible] देना [illegible]।"

[illegible] पत्नी ने [illegible] में [illegible] को [illegible] और [illegible]

निमन्त्रण दिया ।

लीलाधर खड़ा ही रहा । जीवन भी कैसा विवश है ! कैसा निर्मम और नितांत ! मौत पग-पग पर उसके सामने क्यों न आती है, वह अपनी प्रवृत्ति जैसे एक क्षण के लिए भी रुक नहीं सकता । उल्लास-विलास की प्रवृत्ति, करने-धरने की, बढ़ने-उठने की प्रवृत्ति ।

लीलाधर सीधे टेलीफोन की तरफ बढ़े और डाइरेक्टरी में देखकर ए० एस० के घर का नम्बर मिलाया । मालूम हुआ, वह घर पर हैं नहीं । कब आयेंगे ? मालूम नहीं ।

एक क्षण सोचा और डी० एस० एम० के घर का नम्बर डायल किया । उनके स्वर में उकताहट और झुंझलाहट थी ।

लीलाधर ने कहा कि तार अभी मिला है । मैं जानना चाहता हूं कि मौत हुई तो फोन पर खबर मुझको क्यों नहीं दी गई ?

"यह कायदा नहीं है । आप चाहते क्या हैं ?"

"लाश इस वक्त कहां होगी और उसका क्या किया जायेगा ?"

"अभी शायद वार्ड में हो । सवेरे मुर्दाघर पहुंचा दी जायेगी ।"

"क्रियाकर्म का क्या होगा ?"

डी० एस० एम० ने झुंझलाकर कहा, "ले जाइये, और जो चाहे कीजिए । मेरे पास वक्त नहीं है । सवेरे अस्पताल में बात कीजिएगा ।"

"आप पब्लिक सर्वेन्ट हैं, यह और का मामला है । मरीज कोई मेरा रिश्तेदार न था । मैं भी सोशल सर्विस के तौर पर दिलचस्पी रखता हूं । आप का यह तौर भी क्या है । ..."

और उधर से फोन कट चुका था ।

पत्नी ने पूछा, "क्या हुआ ?"

लीलाधर ने कोई जवाब न दिया । गुमसुम वह पलंग पर आ गये । उनको दुःख था । यह दुःख किसी पर नहीं था । सिर्फ इस पर था कि [illegible] और है । मानो यह जिन्दगी के बारे [illegible] है । उनको [illegible] जैसे [illegible] पर [illegible] पीछे भी [illegible]

जिया जाय ?

सुखिया मरी, यह समझ मे आता है। पर वह जीई क्यो ? यह समझ मे नही आता। इधर पैंतीस बरस की उसकी जिन्दगी का फैलाव सामने आता है—छ वरस की उमर मे विधवा हो गई। लीलाधर की मा की सस्था मे सोलह-अठारह वर्ष की उमर मे काम करने आ गई। काम के साथ दो-चार अक्षर भी सीख गई। पहले बारह रुपये और रोटी-कपडा पाती थी। अक्षर सीखकर बीस रुपये खुश्क पाने लगी। बीस मे अपने ऊपर पाच खर्चती, पन्द्रह इधर-उधर, पास-पडोस के बाल-बच्चो पर निछावर कर देती। फिर कही दूर चली गई और मालूम हुआ कि किसी पाठशाला मे वही बीस रुपये पाती है और चाकरी करती है। उसने रूप नही पाया था और शायद जीवन भर पुरुष भी नही पाया था। मा की वजह से लीलाधर को वह जानती थी और कही हो और चाहे लगडाते-लगाडते उसे आना पडे, राखी का दिन वह नही भूलती थी। राखी पर महीने की तनख्वाह से ऊपर का सामान वह ले आती होगी और वापिस एक पैसा स्वीकार नही करती थी। वह रहती चली गई, एकाकी और नीरस, और बीमारिया उसे घेरती चली गई। कान बेकार हुए, टागें बेकार होने लगी और फिर पेट बेकार हो गया।

दो बरस से राखी पर वह नही आई थी। कहा किस हाल रही, पता नही। कोई खैर-खबर नही मिली। मिला तो आखिर मे वह कार्ड मिला जिस पर जाने किस ताकत से उसने टेढी-मेढी वे सतरें लिखी हो।

यह जीना क्यो हुआ ? क्यो हुआ ? लीलाधर समझ नही पाते। नही समझ पाते उस विधान को और विधाता को जो यह सब बेकार कर जाता है। इस सुखिया को आखिर क्यो जीने दिया गया—पचपन साठ बरस की उमर तक। क्या उस विधाता का या इस दुनिया का बिगड़ता था अगर उसे पहले ही उठा लिया जाता ! और क्या था कि उसे जनमाया गया।

लीलाधर को गुस्सा यही था। उस पर था जिस पर गुस्सा चल नहीं सकता। जिस पर किसी का कुछ वश नहीं चल सकता। जो है और नहीं होता तो अच्छा था।

"सोते क्यों नहीं हो? आओ, सो जाओ।"

और पत्नी का हाथ बढ़कर आया कि सोचो नहीं, लेट जाओ। वह बढ़ा हाथ मगर जिन्दगी का था तो इस वक्त वह भी लीलाधर को उतना ही बेकार मालूम हुआ। जैसे वह सिर्फ दवाब हो और शेष उसमें कुछ अब न हो व्यर्थ हो।

"सोच में क्यों पड़ते हो? मुनिया तो अब आने से रही। और फिर शरीर जैसे हमने मरघट में जाकर जलाया, वैसे अस्पताल वालों ने रख-फूंक दिया। इसमें चिन्ता की क्या बात है?"

लीलाधर ने अनुभव किया कि बेशक इसमें चिन्ता की बात नहीं है। स्त्री की बुद्धि की उनके मन में सराहना हुई कि वह कितनी व्यावहारिक होती है। काम के समय वह तत्पर थी, वही अब बेकाम चिन्ता मोल लेने के लिए तैयार नहीं थी। शरीर ही जो शव है। [illegible] जलाया गया या कि ही बिजली में [illegible] दिया गया या चील-कौओं को खिला डाला गया—फर्क इसमें क्या होता है?

भगवान! और सब होने में पहले शरीर को लेकर ऐसे जिया [illegible] जिया गया जो इसी से कौन बड़ा फर्क पड़ जाता है!

[illegible] गहरा नकार और तिरस्कार लीलाधर के मन को घेर गया। जैसे जिन्दगी कोई सच नहीं, एक बड़ा भारी झूठ और झमेला हो। [illegible] जिया हो, और जीना ऐसे जीने के लिए हो जैसे मरने [illegible] है।

आग्रही मालूम होता था।

कुछ नही है, एक दम कुछ नही है। लेकिन हा, शायद वाह है और उस वाह का घेरा है। उस घेरे मे घिरने के लिए लीलाधर अनायास अपने सोच से उवरे और चारो तरफ के भीषण नकार को देखते-देखते मुस्कराते स्वीकार ने लील लिया।

पर रात बीतती है, सवेरा आता है और उसके साथ मानो कर्त्तव्य जागने लग जाता है। लीलाधर ने फोन किया डी० एस० एम० को। इस समय वह तने अफसर न थे और लीलाधर के कहने पर कि क्या हम लोग आकर शव देख सकते हैं? उन्होने अभ्यर्थना के साथ कहा, "अवश्य आइए। सीधे मेरे दफ्तर मे आइएगा तो कोई असुविधा न होगी। मैं साढे आठ बजे पहुच जाता हू।"

लीलाधर ने कहा, "चलोगी?"

"अब, सवेरे ही सवेरे इतने काम की भीड़ मे?"

"देख लो, लेकिन चलना चाहिए।"

"तो चलो, दया को भी बुला लू?"

"दया को—बुला लो।"

दया सहेली है। तत्पर और सेवा भावी है। और हिम्मत के कामो मे आगे रहा करती है।

डी० एस० एम० ने पहुचते ही लीलाधर जी का स्वागत किया और तत्काल फोन से हिदायत दी कि एक मित्र आ रहे हैं, उन्हें कोई कष्ट न हो। और शव नम्वर 'अ' उन्हे दिखा दिया जाय।

लीलाधर ने पूछा कि शव का क्या किया जायेगा?

"कोई अगर नही मागता है, तो अडतालिस घटे के बाद उसको किनारे कर दिया जाता है। आप शरीर ले जा सकते हैं, चाहें तो।"

"शरीर—क्या आपके किसी उपयोग मे नही आ सकता?"

"क्यो नही! यहा तीन मेडिकल कालेज हैं। सबको जरूरत रहा करती हैं।"

पत्नी की सहेली दया का आग्रह हुआ कि नही, शरीर की विधि-वत् अन्त्येष्टि होनी चाहिए। सब झझट और खर्च दया भुगतने को तैयार हुई। तैयार हुई कि शरीर को अभी साथ ले चला जायगा। मालूम हुआ कि पत्नी भी इससे सहमत है और उद्यत है कि शरीर को साथ ले चलो और खर्च सब अपनी तरफ से होगा।

लीलाधर ने कहा, "अडतालीस घटे लाश को सडाने से क्या फ़ायदा ?"

डी० एस० एम० ने बताया कि एतिहात की जाती है लाश की। वर्फ वगैरह का पूरा इन्तज़ाम रहता है।"

मानना होगा कि माकूल इन्तजाम है मुर्दों के लिए। जीनेवालो के लिये अगर नही है तो सिर्फ इसलिये कि जीते फिर वे आखिर किस-लिये हैं ? लीलाधर ने कहा, "अभी क्यो नही लाश को कालेजो के इस्तेमाल के लिए भेजा जा सकता है ?"

"आप लिखकर दें कि वारिस कोई नही है और हमको इजाजत दें तो फौरन इन्तजाम हो सकता है।"

लीलाधर के मन मे वही पहली रात वाला गुस्सा उठ आया था। उनके मन मे हुआ कि जीतो की या मुर्दों की जिस कदर चीड़-फाड हो और उसमे से ज्ञान-विज्ञान की जितनी व्यर्थता को निकाला जाय, उतना अच्छा है। लीलाधर ने उसी वक्त कागज लेकर उस पर लिख दिया कि अस्पताल वाले लाश का मुनासिब इन्तजाम कर सकते है। उसे सभालने वाला कोई नही है।

उसके बाद तीनो मुर्दाघर गये। आदमी ने ताला खोला और जिस कमरे मे दाखिल हुए, वहा थैले मे बन्द दो लाशें तख्तो पर बिछी थी। एक पर बर्फ की दो जगह आधी-आधी सिल्लिया रखी थी। बराबर मे गठरी सी थी जिसमे मालूम हुआ कि एक बच्चे की लाश है। तीसरी लाश सुखिया वाली थी। आदमी ने गाठ खोलकर कपडे से उसका चेहरा बाहर किया था। वह चेहरा राख सा सफेद और शान्त था।

दया ने कहा, "देखो, वहन जी ! कैसा शान्त चेहरा है। कष्ट से नही मरी, सुख-साता से मरी है।"

"हा, देखो, पलक जैसे चाहिये वन्द हैं, माथे पर सलवट नही है। कष्ट की कोई लकीर नही है। हे राम !"

लीलाधर कमरे को देख रहे थे। नीचे टीन का वडा वक्स था। एक तरफ कई कुडो सी जडी अलमारी थी। मालूम हुआ, गर्मियो मे खास कर मुर्दे ज्यादे हो जाते हैं तो वक्स मे भर दिये जाते है। अलमारी भी इसी काम के लिये हैं।

"भर दिये जाते हैं ?"

आदमी ने कहा, "जी नही, इन्तजाम पूरा रहता है, वर्फ वगैरह का। मजाल कि वदवू आये।"

लीलाधर ने कमरे को चारों तरफ से देखा, खिडकी से वाहर सफेद हड्डियो के टुकड़े-टुकडे हुए ढाचे पडे थे। और देखा कि पत्नी और दया सुखिया के शान्त चेहरे को देख रही है। उन्होने कहा, "चलो !"

और तीनो चले आये। और शव रह गया और वाहर सब वैसे ही हुआ जा रहा था जैसे हो रहा था।

दिसम्वर, '६४

उलट फेर

अन्त मे अडतालीस वर्ष की अवस्था मे प्रमीला रस्तोगी को तय करना पडा कि वह इन्टरव्यू मे जाएगी और लाइब्रेरियन की जगह पाने का प्रयत्न करेगी। अभी माधव पढ रहा है, राघव भी स्कूल मे है, और उनके पिता से कुछ आशा नही हो सकती है।

आशा थी सुशीला से। वह पुरानी साथिन है और भाग्य से स्कूल की मुख्याध्यापिका है। दूसरे उसने सुना था कि इन्टरव्यू मे माथुर बैठने वाले हैं। वह 'इनके' सहपाठी रहे थे और विवाह जब नया था तो कभी कदास घर पर आ जाया करते थे। प्रमिला ने उन्हे देखा नही, न उन्होने प्रमिला को देखा था। घर बडा था और पर्दा रहा करता था। वह भी शर्मीली थी, सुन्दर मानी जाती थी इसलिए और भी शर्मीली थी। किन्तु शायद है कि नाम की याद उन्हे हो और इस कारण इन्टरव्यू मे प्रमिला को सहारा हो जाए। माथुर बढते-चढते गए थे और इसी सस्था मे सम्बद्ध एक इन्टरमीडियेट कालेज के प्रिंसिपल के पद से निवृत्त हुए थे।

इन्टरव्यू खैर हो गई और प्रमिला को उसमे नियुक्ति भी मिल गई। लेकिन पौने दो सौ की जगह वेतन उसका सवा सौ नियत हुआ। इस पर उसने सुशील से पूछा, "सुशीला, यह वेतन के मान मे फर्क क्यो पडा ? और बताओ मुझे क्या करना चाहिए ?"

सुशीला ने कहा, "मैं क्या करती ? तुम्ही ने मेरा मुह सी दिया था। और यह माथुर साहब थे जो पौने दो सौ के लिए राजी नही थे।"

"माथुर साहब !"

"हा। उन्होने कहा कि पौने दो सौ वेतन देना हो तो हम प्रतिभा

को क्यो न रखे जो बी ए की जगह एम ए है। मेरा आग्रह तुम्हारे लिए था। उन्होने कहा कि अगर तुम एम. ए की जगह बी ए. को ही रखना चाहती हो तो ठीक है, रख सकती हो। लेकिन फिर सस्था को कुछ लाभ भी होना चाहिए। अगर तुम्हारी कॅडिडेट सवा सौ लेने को राजी हो तो उनकी नियुक्ति हो सकती है। मैने इस पर बहुत प्रतिवाद किया। लेकिन माथुर साहब अपनी बात से न डिगे। बताओ मैं क्या करती ? मुझे ध्यान भी आया, इशारे से तेरी बात कह दू। लेकिन भलीमानस, तैने तो मुझे कसम दिला दी थी।"

प्रमीला ने कहा, "तो माथुर साहब वही थे जिन्होने तुम्हारी बात को टाल दिया था, इन्टरव्यू मे कि जब तुमने मेरे बारे मे कहा था, यह सस्कृत भी जानती है, बी ए मे एक विषय इनका सस्कृत था। ओह ! वही न जो सुनकर अवज्ञा से हस पडे थे, बोले थे, एक विषय तो ऐसे बहुतो का होता है। मै नही समझती थी कि माथुर ऐसे होंगे !"

"हा, बडे सख्त है। मैने कहा भी, तुम्हारी स्थिति के बारे मे कि दो बच्चे हैं, असहाय है। लेकिन माथुर साहब बोले, कि हम क्या कर सकते हैं। यह शिक्षण सस्था है, सदावर्त तो है नही।"

"अच्छा, यह कहा !"

"और सच बताऊ सुशीला, मुझे लगता है कि वह तेरा चेहरा देख कर खुश नही हुए। तुझे पता है कि तू अब तक गजब की खूबसूरत बनी हुई है और कुछ मर्द होते है जो अपने को बतलाना चाहते हैं कि अह, हमे सुन्दरता का आकर्षण नही खीच सकता। सच कहती हू जरा तू कम सुन्दर होती तो डेढ सौ तो मै तुझे जरूर ही दिला सकती थी।"

"चलो, हटो ! तुम तो कहती थी कि सुन्दरता मेरे काम आएगी। और अब यह ..."

"मै क्या करती, तुम्ही नीची, भोली-सी निगाह किए बैठी रही, मौका था कि एक कटाक्ष ही छोडा होता। पर तुम तो ..."

"हसी न करो सुशीला। मै पचास की होने जा रही हू...यह

बताओ, मैं क्या करू, स्वीकार कर लू ?"

"नही तो क्या करोगी ?"

'यही सोचती हू कि नही तो क्या करूगी। लेकिन बडा अपमान जैसा मालूम होता है।"

सुशीला ने गहरी सास छोडी। वह इस प्रमीला के प्रति प्रशंसा से भी आगे अब लगभग श्रद्धा के भाव रखती थी। छोटी थी, तभी से वह प्रमीला की विलक्षण सुन्दरता के जादू मे आ गई थी। उसके बाद जीवन निकलता चला गया। प्रमीला जो हर तरह सम्पन्न थी। अब इस अवस्था मे आकर विपन्न और प्रार्थिनी बन आई थी। और सुशीला जो आरम्भ मे असहाय जैसी ही थी, अब इस हाई स्कूल की अधिष्ठात्री थी। वह कुछ दग थी भाग्य के खेल पर। दग यह देख कर भी थी कि प्रमीला भाग्य के थपेडे खाते-खाते भी हारने को तैयार नही है और जीवन से जूझे ही चली जा रही है। उसने क्या-क्या नहीं देखा ? क्या-क्या नही सहा ! क्या था जो छुटपन मे उसे प्राप्त नही था। राजसी ठाठ-बाट और लाड-प्यार मे पली। दूसरी होती उसकी जगह तो टूट ही गई होती। लेकिन प्रमीला जी ही नही रही है, अपने को पूरी तरह रुचित रखे हुए चल रही है। बिखरी नही है जरा भी। सौंदर्य उस पर से अब भी उतर नही गया है। वह है और समाहित है। एक विस्मय-जनक सम्भ्रम अब भी उसके व्यक्तित्व के आसपास दीखता है।

सुशीला यह सोचती हुई प्रमीला को देखती रह गई। एकाएक कुछ बोली नही।

प्रमीला ने कहा, "बताया नही, मुझे क्या करना चाहिए ?"

सुशीला का मन भारी हो आया। बोली, "बताने को उसमे क्या है ? स्वीकार करना ही पडेगा। स्त्री की विवशताएं हैं। लेकिन सुन, अब भी कुछ बिगडा नही है। माथुर साहब बात को सभाल सकते है। तू मुझे कहने क्यो नही देती कि तू······"

"नहीं सुशीला, नहीं। तुझे मै फिर कसम देती हू।"

"आखिर क्यो ?"

"नही मैं कृपा नही ले सकती। उनके नाते आई कृपा तो और भी किसी तरह नही ले सकती।"

'तो बता, मै क्या करू ? तेरी हालत मे पचास रुपये का फर्क कम नही है और तू कहने देगी तो मैं समझती हू आगे तरक्की का रास्ता भी खुल जाएगा। और तू सच जान, माथुर अपना बचाव कर रहे हैं। बचाव की जरूरत नही रह जाएगी तो वह बहुत उदार हैं और आगे तेरे सामने कोई कठिनाई नही आयगी।"

"फिर वही, सुशीला ! कह चुकी हू, वह नही हो सकता। देखना किसी तरह का जिक्र उनसे न करना। और चलो, यह सवा सौ ही सही। कोशिश करूगी कि इतने मेसबके पेटो के लिए आटा दाल तो जुड जाए।"

नियुक्ति हो गई। और प्रमीला काम करने लगी। नौ बजे जाती और छ बजे घर आ पाती। सब काम अपने हाथो से करना पडता। सिर्फ बर्तन साफ करने के लिए महरी रखना जरूरी हो गया था लेकिन उसको दिया जाने वाला वेतन अखरे बिना नही रहता था। राघव की फीस माफ नही होती थी, माधव ने एक छोटी सी तीस रुपये की ट्यूशन कर ली थी। जैसे तैसे गाडी खिच रही थी। रहने को तीनो के लिए एक बरसाती हाथ आ गई थी। किराया उसका पच्चीस रुपया। प्रमीला का बडा लडका दूर निकल गया था। वह कभी छठे छमाहे कुछ रुपया भेज दिया करता था। पर इधर उसे भी कठिनाई थी। उमर आ गई थी, और उसे विदेशी कन्या से प्रेम हो गया था। ऐसे मे छठे छमाहे भी कुछ आ जाए, यही क्या कम था !

यो डेढ एक साल खिच गया। काम के बोझ के कारण प्रमीला का शरीर दर्द देने लगा था। बरसाती तीसरे मजिल पर थी। चढते उतरते अब वह हाफ जाती थी और जोड पिराने लगे थे। उसके मन मे रहता था कि जैसे भी हो, बच्चो को काबिल करना है। उसके मन को मरने

या दवने नही देना है। खुद अपने पर कितना भी वोझ क्यो न पडे। चाहे काम का, चाहे चिन्ता का या निन्दा का। उसे लगने लगा था कि जीवन सचमुच वलिदान है। एक का वलिदान ही है जो दूसरे को यहा खिलाता है। और यदि उसका जीवन खुद पिस रहा था तो माधव और राघव तो थे जो उस पर पल-बढ रहे थे। यही मानो उसकी अपनी सार्थकता थी और इसी मे वह हर दिन के सवेरे को उसकी शाम से मिला देती थी। अवेरे तडके उठती और काम मे प्रवृत्त हो जाती। माधव और राघव दोनो को खिला-पिला कर नौ वजे ड्यूटी पर पहुच जाती। शाम को हारी थकी छ वजे आती और फिर रोटी-चूल्हे के झझट मे जुड जाती। माधव ने जो शाम की ट्यूशन ली थी, सो रात नौ वजे घर आ पाता था। राघव भी इन कठिनाई के दिनो मे से अपने लिए शिक्षा ग्रहण कर रहा था। वह मा के लिए जितना वनता सहाई और उपयोगी होने की कोशिश किया करता था।

इसमे फुर्सत ही न मिलती किसी वात की। दूसरे तीसरे महीने वच्चो के पिता की चिट्ठी मिलती तो उसका मन उखड आता था। अधिकाश चिट्ठी उनको नही आती थी, वच्चो को आती थी। वही उनके दु ख के उभार के लिए काफी हो आती थी। लेकिन अच्छा था कि काम का ताता ऐसा था कि दु ख को सहलाने को समय न छोडता था। और जिन्दगी की गाडी रुक न पाती थी, आगे सरकती वढती ही जाती थी।

सुशीला कभी-कभी घर आ जाती या प्रमीला ही सुशीला के पास चली जाती। या तो नाते-रिश्तेदारी से कभी किसी टेले का बुलावा आ पहुचता और वचना सभव न होता। लेकिन नातेदारियो का निवाह भारी वहुत पडता और उसके मन का वोझ वढ जाता। कारण, अकेले होकर जिन्दगी से जूझती हुई नारी के लिए सराहना के भाव होने का कायदा समाज मे नही पाला जाता है। उसमे भी यदि वह निन्दा दवी-ढकी हो, मुह पर खुल कर न आती हो, वस एक ऊपरी शिष्टाचार के व्यग्य मे ही प्रकट हो पाती हो, तव तो वह असहनीय ही हो जाती है।

पर असह्य को भी सहा जाता है और जीना पड़ता है।

बात बहुत पुरानी है। माथुर साहब के एक छोटा भाई था। नाम था शेखर। वह प्रमीला के बड़े लड़के वीर से एकाध साल ही बड़ा होगा। जब-तब घर पर आ जाया करता था और वीर के साथ प्रमिला को वह भी भाभी कहता था। उन्हें बहुत ही मानता था। भाभी को भी उससे बड़ा लाड था। कभी वह माथुर साहब के साथ आता। तब माथुर तो बाहर मरदानी बैठक मे अपने सहपाठी मित्र से बतियाते रहते और शेखर की भाभी भूले भी बाहर न निकलती। शेखर भीतर अपनी भाभी के पास रहकर और मचल कर जाने क्या क्या उनसे सुनता और लेकर खाता रहता था।

हुआ यह कि प्रमीला को वह शेखर ही मिल गया। खासा जवान हो गया था। लेकिन देखते ही पहचानने मे उसे देर न लगी। वह आया और एकदम भाभी से लिपट गया। प्रमीला बेहद सकुचित हुई। माथुर साहब के यहा कोई पार्टी थी और स्कूल के कर्मचारी के नाते प्रमीला भी वहा गई थी। उस पार्टी मे अनेकानेक गणमान्य लोग थे। प्रमीला एक किनारे बच-बच कर निभ रही थी। शेखर के इस अचानक प्रेमाक्रमण पर वह घबरा आई। बोली, "अरे, शेखर! तू है? लेकिन जरा देख भाई चुप कर, कोन नही।"

शेखर भाभी से हट तो गया, लेकिन उसके मन मे बहुत उत्साह था। कैसे बताता कि इन पन्द्रह-बीस वर्षो के अन्तराल मे भाभी बराबर उनके मन मे क्या बनी रही है। किन्तु भाभी की झिझक पर अन्त मे उसको भी कुछ अटपटा लगा और थोड़ी देर बाद वह चुपचाप वहा से चलकर माथुर साहब के पास आ गया। उन्हे खबर दी कि यहा भाभी आई हुई है।

"भाभी, कौन भाभी?"

"वही, रस्तोगी साहब वाली। आप भूल गए?"

माथुर एकदम आश्चर्य मे पड़ गए। पुरानी गढी बात मन मे नई

और जीती हो गई । पढाई के बाद अभी जीवन शुरू ही हुआ था। सहपाठी मित्र के यहा जाते थे और कभी वहा हठात् इधर से उधर जाती हुई रमणी की पगध्वनि उन्हे सुन जाती थी। कभी अचानक उसके पगतल भी दीख जाते थे। अचानक, क्योकि वह फौरन उधर से आख हटा लेते थे। एक ही बार शायद ऐसा हुआ था कि उनके दोनो हाथ भी दीख गए थे। चेहरा दीख सकता था यद्यपि साडी की कोर को काफी आगे तक ले आ गया था और उसको पर्दे का निमित्त समझा गया था। देख सकते थे और देखना भी चाहते थे। लेकिन देखना सभव हो नही सका था। और मन ही तो है। फिर वय की बात है। तब जाने क्या चित्र क्षण मे बन जाएगा और शाश्वत होकर रह जाएगा। कुछ ऐसा ही उनके साथ हुआ था। बोले, "क्या बकता है? वह यहा कहा आएगी?"

शेखर ने कहा, "लाऊ उन्हे यहा बुला के?"

"हा, ले के आ।"

शेखर ने जाकर कहा कि भाई साहब बुला रहे है। सुनकर प्रमीला धक् से रह गई। इसी क्षण को वह डर रही थी। हुआ कि कह दे वह नही जा सकेगी। पर माथुर माथुर ही न थे, स्कूल कमेटी के उपाध्यक्ष भी थे। मनमारी वह साथ-साथ हो ली जैसे बन्दिनी हो।

पार्टी का अवसर था और आस-पास भीड थी। प्रमीला शेखर से एकाध डग पीछे रह गई थी। पास पहुचने पर माथुर साहब ने शेखर से कहा, "अरे कहा है तेरी भाभी?"

अनायास उत्साह से वह बोल पडा, "क्यो, यही तो है!"

बोलने के साथ उसने अगल-बगल देखा और पीछे एक कदम हटकर प्रमीला को बाह से पकडा और माथुर साहब की ओर आगे बढा दिया।

माथुर ने देखा। जैसे उन पर गाज गिरी। सामने प्रमीला मुरझाई सी जा रही थी। वह आख उठाकर देख नही सकती थी।

माथुर को सब भूल गया। अपनी आयु भूल गई, पद भूल गया।

अपना आपा ही जैसे उनसे खो गया। क्या इन्ही के सौन्दर्य से अपने को बचाने के लिए वह सख्त हुए थे। क्या इन्ही के वेतन का पचास रुपया कम कर डाला था! वह किसी तरह अपने को समझा नही सके। उनकी कल्पना बेकाम हो गई। सम्पन्नता की किस ऊंचाई पर उन्होने इन महिला को देखा था—वह भूल नही पाते थे। बल्कि देखा कहां था? नही तो झांकी तक नही पाई थी। देखने की स्पृहा ही मन में जुटाकर रख पाई थी। वही उनके अधीन मामूली-सी जगह की नौकरी पाने की प्रार्थिनी बनकर आने को विवश हुई! यह सहसा उन्हें अकल्पनीय और असहनीय हुआ। मानो वह अपने को धिक्कार रहे हों। इस धिग्भाव में माथे में बल डालकर वह वहां से एकदम लौट पड़े। एक शब्द भी प्रमीला को नही कहा। सिर्फ ताकीद के स्वर में शेखर को कहा, 'इधर आओ।"

शेखर जाते हुए भाई साहब के पीछे चल दिया और प्रमीला अपराध की मूर्ति बनी-सी वहीं अकेले खड़ी रह गई। उसको भी एक क्षण कुछ नही सूझा। फिर एकाएक नाना दुसम्भावनाएं उसके माथे में कोलाहल मचाती हुई भागने-दौड़ने लगी। उसके मन में निश्चय-सा बनकर जाग उठा कि अब उसकी नौकरी समाप्त हो गई है। उसके साथ जैसे सारा भविष्य भी उसके लिए समाप्त हुआ जाता लगा। माथुर के माथे पर पड़े बल को देखकर उसके चित्त में संशय नही रह गया था—या बड़ा संशय पैदा हो गया था!

शेखर लौटा तो उसकी भाभी वहीं की वहीं खड़ी थी। उनका चेहरा देखकर वह सन्न रह गया। उसका मन उछला आ रहा था। लेकिन अब ऐसा बैठा कि उसको कुछ नही सूझा। उसने बाहें अपनी भाभी के कन्धों पर की और मानो उन्हे थामते हुए वह उन्हे ले चला। कहा, "भाभी, अभी जाना नही होगा। भाई साहब ने कहा है कि ठहरना होगा।"

प्रमीला ने शेखर को देखा। जैसे वह शब्द समझ नही पा रही थी।

शेखर ने जल्दी से कहा, "भाई साहब ने कहा है, पीछे हम पहुचा देगे घर। ताकीद से कहा है कि तुम्हारी भाभी अभी जाएगी नही, कह देना।"

प्रमीला ने सुन लिया। उसको अपना अपराध समझ न आ रहा था। लेकिन अब एकाएक शेखर के स्वर से हठात् उसे लग आया कि कही उसका भय निर्मूल ही तो नही है? फिर भी डेढ साल के अनुभव मे उसने पाया था कि माथुर साहब उसकी तरफ खासतौर से सख्त है। उसे तरक्की नही मिली है और उस पर दूसरी ताकीदें भी रही हैं। जाने एक साथ आश्वासन और आशका से कैसी वह मथी जाने लगी।

"क्या हुआ भाभी?"

शेखर की भाभी कुछ नही बोली।

"यह तुमको क्या हो रहा है?"

"कुछ नही।"

शेखर की बाहो ने अनायास भाभी को कन्धो-से जैसे अपनी ओर खीच कर सरक्षण मे लिया। उस दबाव पर एकाएक प्रमीला मे सशय कटता चला गया और विश्वास भरने लगा।

भीड छट चुकी थी, लोग चले गए थे और प्रमीला माथुर साहब के सामने अकेली बैठी थी। शेखर था और कमरे से वह जा चुका था। गए एकाध मिनट हो गए और उन दोनो मे कोई कुछ नहीं बोला था।

अन्त मे माथुर ने कहा, "प्रमीला!"

स्वर भारी था और काप रहा था। प्रमीला ने घबडा कर ऊपर देखा।

माथुर ने अपनी निगाह नीची नही की। वह प्रमीला को देखते रहे। देखते-देखते उनकी आखो मे आसू भर आए। भर कर वे टप-टप गिरने भी लगे।

प्रमीला विमूढ-सी बैठी रह गई। स्कूल की वह कर्मचारिणी थी, माथुर उपाध्यक्ष थे। यह न होता और प्रमीला नारी हो सकती तो पुरुष की ओर बढकर वह सान्त्वना देती और आसू न बहने देती। पर

अब वह विमूढ बनी बैठी रह गई।

माथुर निर्लज्ज निर्व्याज कोई दो मिनट तक टप-टप आसू गिराते रहे। निगाह उन्होने नही हटाई और बोले भी नही। अन्त मे उन्होने रूमाल निकाला, आखें पोछी, नाक साफ किया और भर आते कठ-से बोले, "प्रमीला !·· यह तुमने क्या किया ?"

प्रमीला चुप रह गई।

"बताया क्यो नही मुझे ? मेरे हाथो यह पाप क्यो करवाया ?"

प्रमीला अब भी कुछ बोल नही सकी।

माथुर ही कहते गए "और अब कुछ हो भी नही सकता है।·· छोडो, देखा जाएगा। पर प्रमीला, यह हुआ क्या ?"

पूछकर माथुर उसे कोरे से कुछ देर देखते ही रह गए तो प्रमीला ने अपने को समाहित किया।

बोली, "होता क्या, भाग्य का उलटफेर। और क्या ?"

"वह कहा है—सरूप ?"

"शायद·· नौकरी मे है।"

"शायद ?·· और तुम ?"

"मैं यहा हू—आपके स्कूल मे।"

माथुर सुनते और देखते रह गए। आखिर पछताए-से स्वर मे वही बोल पडे, "मुझे बताया क्यो नही तुमने पहले ?"

"क्या बताती ?"

"मुझे पहचान तो सकी थी न ?"

"नही।"

"पहचाना नहीं ? ·जानती तो होगी ?"

"जानती थी इसीलिए तो स्कूल मे नौकरी के लिए दरख्वास्त दी थी। लेकिन मैंने पूरी तरह आपको देखा कब था कि पहचानती ?"

माथुर कुछ देर रुके, फिर बोले, "मैंने देखा था। चेहरा नही देखा था, पाव देखा था। और एक बार हाथ भी देखा था। और चेहरा··

नही, देख नही पाया। देखा होता तो यह पाप कैसे होता ? लेकिन तुम अकेली क्यो हो ? बताओ, मैं कुछ कर सकता हू ?"

"क्या सब अकेले नही है ? और इसमे कौन क्या कर सकता है ?"

माथुर प्रमीला को देखते रह गए। समझ गए यह महिला सपनो मे पली अब अन्त पुर वासिनी नही है। जीवन यथार्थ के अनुभवो ने बाहर से बादाम की तरह इसे कठोर बना दिया है। शायद वह कठोरता ही है जिसने इसे टूटने नही दिया है और उसकी सुन्दरता की कसावट को ज्यो का त्यो रख लिया है। ठीक है, शायद यही ठीक है। विधाता के मर्म को कौन जानता है ? बोले, "प्रमीला ! तुम पर्दे के पीछे हर तरह की सुख-सुविधा के बीच रहती थी। मैं मास्टर लगा था और तुम्हारी परिस्थितियो की ओर ऐसे देखता था जैसे धरती पर से कोई स्वर्ग को देखता है। और तुम 'नही, मैं ज्यादे नही कह सकूगा। इतना ही पूछना चाहता हू कि मुझे माफ कर सकोगी ?"

"आपने मुझे नौकरी दी है।"

"देखो, इस बात को फिर मुह पर न लाना।" छोटा लडका तुम्हारा किस स्कूल मे पढता है ? माधव के कालेज मे क्या-क्या विषय है ? देखना, कुछ हो मुझे जरूर मौका देना। सरूप तब भी सनकी था। छोडो तुम्हे कष्ट होता है, उसकी बात छोडो। लेकिन अगर तुमने अब आगे किसी तरह का कष्ट पाया, नित्य-निमित्त की आवश्यकता मे सकोच किया और मुझे नही कहा तो मुझसे मेरा कसूर उठाया नही जायगा। और दोष तुम्हारा होगा। सुनती हो प्रमीला ! हुआ सो हुआ, आगे मुझे और दड न देना।"

प्रमीला ने मुस्कराकर कहा, "आपने नियुक्ति के समय मेरे पचास रुपए कम क्यो किए थे ?"

"मैं पागल हो गया था।"

"क्यो ?"

"पागल होने मे भी कोई 'क्यो' होता है ?" 'तुम एम ए० नही थी

और सच कहू ? · मैं भी एम ए नही हू ।"

प्रमीला हस पडी । कहने को हुई "और · "

माथुर ने बीच मे ही कहा, "और ? ··वजह हो तुम !"

प्रमीला मुस्कराई । बोली, "मैं !"

"हा, तुम ।"

और अब आयु का साठवा वर्ष निकट आ रहा है । बडा लडका माधव एम ए० करके अच्छी नौकरी पर लग गया है । राघव की अन्त तक फीस माफ रही और वजीफा मिलता रहा । अब बी ए० करके वह भी नौकरी पा गया है । प्रमीला स्कूल मे लाइब्रेरियन चल रही है । नौकरी जाने की सूरत नही है । सदप पति है और दूर है और साली हैं और ऐंठे है और दुनिया जारी है ।

फरवरी '६५

चक्कर—सदाचार का !

मैं कुछ चक्कर मे हू। मालूम न था कि सदाचार मे भी चक्कर निकल आएगा।

शायद अपने बारे मे कुछ यहा कहने की जरूरत है। तीस वर्ष का हू, विवाहित हू, अच्छी आय है। लेकिन मुझ पर काम की जिम्मेदारी बिल्कुल नही है और एक कार मेरे लिए अलग कर दी गई है। पिताजी का कहना है, जिसमे भाई साहब सहमत है, कि फल बडो की सेवा का मिलता है। काम करने वाले हम हैं ही तुम पढे-लिखे हो, समाज-सेवा की रुचि रखो और सार्वजनिक सम्पर्कों की ओर ध्यान दो। यह सलाह मेरी वृत्ति और प्रकृति के अनुकूल है और मैं मिलने-जुलने का काम किया करता हू।

अब बात यह है कि सदाचार की जरूरत है—और भ्रष्टाचार की बिलकुल जरूरत नही है। कहा जाता है कि भ्रष्टाचार यो रहा होगा हर काल मे, पर जरूरत की मात्रा के अन्दर। अब जरूरत की रेखा से वह बाहर आ रहा है।

ठीक ही है कि समाज के और राज के नेता लोग उधर ध्यान दे। उस ध्यान देने के कारोबार मे मेरे जैसा व्यक्ति सम्मिलित न होगा, यह कैसे हो सकता है। मेरे पास समय था, कार थी, साधन थे और काम बेहद आवश्यक व समाजोपयोगी था। अत देखा गया कि मैं दौड-धूप मे हू और भ्रष्टाचार की रोकथाम के प्रयत्नो मे व्यस्त हू। सदाचार होना चाहिए और उसको जारी करने और रखने का काफी भार अपने कधो अनुभव करता रहता हू।

लेकिन अवस्या मेरी तीस ही वर्ष है। इस कारण कुछ मर्यादाएं हैं।

हुआ यह कि सदाचार समिति के अध्यक्ष का स्थान खाली हुआ, जो थे उनको बडा ओहदा दिया गया और वह दूर चले गए। कुछ दिनों तक सोच-विचार चलता रहा। एक रोज मिस्टर वर्मा, जो यों सदाचार में कुछ न थे, मगर डिप्टी सेक्रेटरी थे और सदाचार वाली समिति के लिए नेपथ्य के सूत्रधार थे, एकाएक पूछ बैठे, "शर्मा जी को जानते हो ?"

"कौन शर्मा जी ?"

"अच्छा, नही जानते हो ?"

उस प्रतिप्रश्न मे लगा, यह तो बात गडबड हुई जा रही है। मैंने जल्दी से कहा, "शर्मा जी, एक तो अपनी ही तरफ है, कमलानगर में।"

मिस्टर वर्मा ने मेरी ओर देखा। उस दृष्टि में दया थी और मानो क्षमा भी थी। मुझे लगा कि मैं उस निगाह मे गिर रहा हूं। मुझे हर हालत मे नहते रहना चाहिये था। इसलिये कहा, "कहिए, उन्हें क्या कहना होगा ?"

"जाने दो, तुम उन्हें नही जानते।"

"लेकिन—जी—"

मिस्टर वर्मा जरा हंसे और घंटी बजा कर सेक्शन आफिसर से मालूम किया कि हां, शर्मा जी उधर कमला नगर में ही रहते हैं।

मैंने झटपट कहा कि—उन्हें तो मैं खूब जानता हूं। कहिए ?

वर्मा मुस्कराए, बोले, "एच० एम० का ख्याल था कि अध्यक्षता के लिए उनसे कहा जाय। तुम—"

"शर्मा जी से ?"

मैंने भरसक स्वर को तूफानी रखा। शर्मा जी थे तो एक हमारे मोहल्ले मे, पर मनकी से आदमी समझे जाते थे। सात वर्ष की अपनी सार्वजनिक दौड-धूप में कभी मुझे उनकी आवश्यकता नहीं हुई। सुना था कोई हैं, कुछ है। लेकिन अध्यक्षता के प्रसंग में इस तरह उनका नाम सीधे एच० एम० की तरफ से सुनने को मिल जाएगा, इसकी

कल्पना भी कभी मुझे न हो सकती थी। वही नाम मिस्टर वर्मा की ओर से चुनौती की तरह चौंकाता हुआ, जब मेरे समक्ष आया तो बहुत समझिए कि मैं अपना संतुलन बचाये रख सका और यह नहीं प्रगट होने दिया कि शर्मा जी के व्यक्तित्व के लिए मेरे मन मे कम आदर है। कहा, "शर्मा जी से बताइए, क्या कहना होगा ? वह तो मुझे बेहद अपना अजीज मानते है। मैं अवश्य उनसे कह सकता हू और स्वीकारता ला सकता हू ।"

वर्मा ने मुझे देखा। फिर उनके होंठो मे मुस्कराहट का वक्र था। पूछा, "तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

"शर्मा जी," मैंने टटोलते हुए कहा— "एच० एम० ने बहुत मुनासिब सोचा है।"

"तो जाकर तुम उनसे मिलो। अभी अध्यक्षता की बात कहने की जरूरत नही। बस रुख देखो और मुझसे कहना। तब एच० एम० खुद मिलना चाहेगे।"

एच० एम० खुद मिलना चाहेगे कि अध्यक्ष होने के लिए समक्ष निवेदन कर सके ! मुझे लगा, दुनिया गलत है और कही कुछ भूल है। लेकिन कहा कि अच्छी बात है और शाम को हाँ मैं आपको वापिस आकर मिल सकता हू ।

वर्मा ने कहा कि नही, जल्दी की बात नहीं है और परसो से पहले शायद उनसे मुलाकात भी न हो सके।

मैंने कहा कि अच्छा, और देख लिया कि गम खाए बिना दुनिया मे चलना नही हो सकता है, और अफसर सदा अफसर होता है।

पर यह सब तो भूमिका हुई। शर्मा जी के यहा जाना हुआ तो वहा ड्राइंग रूम तक न था। बाहर एक तख्त पडा था। मालूम हुआ कि यहीं बैठना होगा। पाच बरस का एक बच्चा आकर मेरा कार्ड भीतर ले गया और पाच मिनट तक मैं उन छोटे से बरामदे के सूने मे बैठा देखा किया कि अजब तमाशा है। मैं वहा बैठा हू कि जहा तरीके से बैठना भी नहीं

नसीब हो सकता। और बैठा इसलिए हूं कि एच० एम० इन महाशय से मिलना चाहते हैं और मैं किसी तरह एच० एम० तक अपनी पहुंच बनाना चाहता हूं। कुछ बेतुकी सी मालूम हुई वह पांच मिनट की देर कि जब शर्मा जी बरामदे में उपस्थित हुए। मैंने खड़े होकर हाथ जोड़े और उन्होंने कंधा पकड़कर पहले मुझे उसी तख्त पर बिठाया और बराबर में फिर खुद बैठ गये। पैरों में लकड़ी की चट्टी थी और पहने हुए थे आधी धोती और आधी बांहों की बंडी। चेहरे में कोई खास प्रभाव नहीं नजर आया। सौम्य था अवश्य, पर रोबीला नहीं कह सकते।

"कहो, भई, यहीं रहते हो, कमला नगर?"

"जी।"

"ऐसे न बोलो, जैसे मैं तुम्हें जानता नहीं हूं,—शालीग्रामजी के तो लड़के हो न? कहो, कैसे कष्ट किया?"

"म—हम लोग सोचते थे कि इधर आप कुछ उदासीन रहते हैं। देश की अवस्था विषम है। पद की लोलुपता है। भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। ऐसे में आप से कहें कि उदासीन रहने का हक नहीं है, आइए और हम नौजवानों का मार्गदर्शन कीजिये।—लोग भर नैतिक मूल्यों की तरफ बड़ा दुर्लक्ष हो रहा है आजकल। एक आपा-धापी चल रही है। देखिए की दवा तक शुद्ध नहीं मिलती। खाने-पीने की चीजों में तो मिलावट की हद नहीं रह गई है। घूसखोरी की पूछिये ही नहीं। इस घोर दशा में आपको उठना चाहिए और..."

"ठीक है, ठीक है। तुम कर क्या रहे हो?"

"छह वर्ष हुए पालिटिक्स में एम० ए० किया था। लेकिन हर परिवार को कम-से-कम एक आदमी तो देना चाहिए देश सेवा के लिए। पिता जी ने यही सोचकर काम का बोझ मुझ पर नहीं डाला है और आप-जैसों के मार्गदर्शन में सेवा के निमित्त छोड़ दिया है।"

"बच्चे कितने हैं?"

"एक।"

"लडका है ? कितने वर्ष का है ?"

"दो वर्ष की बच्ची है।"

"तो तुम देश के काम मे हो ?"

"जी।"

"अच्छा है, अच्छा है।"

बात खतम सी लगती थी। मैंने हठात् कहा, "सदाचार के प्रचार के लिए बताइए क्या किया जाना चाहिए ?"

"सदाचार ?—की समितिया बन तो रही है। काम भी तेजी से हो रहा है। तुम्हे उसमे लग जाना चाहिए।"

"लेकिन, आप—"

"हा, हा, कहो। मैं क्या ?"

"आपका उसमे योग चाहिए।"

"योग है क्यो नही। अवश्य है, अच्छे काम मे भगवान का योग होता है। फिर सवाल क्या ?"

"हम आपको अपने साथ समझ सकते है ? समिति मे ले सकते हैं ?"

"साथ मैं क्यो नही हू। लेकिन समिति—उसको जाने दो।"

"समिति तो कार्य को स्वरूप देने के लिए है।"

"हा, हा, वह तो है।" शर्मा जी ने कहा—और मुझे ऐसे देखा जैसे देखना अब आरम्भ कर रहे हो।

कुछ क्षण उस निगाह के नीचे मैं अस्तप्राय-सा बैठा रहा। फिर हठात् कहा, "तो आपकी अनुमति हम मान सकते है ?"

उन्होने उत्तर नही दिया। चेहरे पर कुछ काठिन्य झलक आया। लेकिन हठपूर्वक मानो हसते हुए बोले, "तुम्हे उसकी बहुत चिन्ता है ? तुम तो जवान हो, बड़े लोग चिन्ता कर ही रहे हैं। देश की बातें उन पर छोड दो।"

"लेकिन, सर, यह देश की बात नही है, जनता की बात है। जन-जन की बात है।"

हंसकर बोले, "हां, हां, जन-जन की बात है। बोलो, क्या लोगे? लस्सी ले सकोगे? या कोकाकोला ही चाहिए?"

"जी नहीं, कृपा है। लेकिन—"

"देखो बेटे, देश नेता लोग सो नहीं रहे हैं। वे जगे हुए हैं और तत्पर हैं। ऐसे में बहुत ज्यादे जिम्मेदारी औरों को अपनी नहीं माननी चाहिए। समझे न? समितियां हैं, और काम के लिए तुम जवान लोग हो। फिर क्या चाहिए? नेता हैं जो कटिबद्ध हैं, कार्यकर्ता हैं जो तुम जैसे परायण हैं। मैं—बहुत अधिक व्यक्ति हूं, मेरे लिए काम रोको नहीं, चले चलो।"

मैंने मन में अपना माथा ठोका। यही वस्तु है जो हमारी अवनति के मूल में है। यह असलग्नता और तटस्थता। जैसे जो है, दूसरे पर है। आप बस साक्षी हैं और द्रष्टा हैं। असन्तोष में कहा—"नागरिक आप भी हैं और हर नागरिक का दायित्व है—" शर्मा जी का चेहरा कठोर होता दिखाई दिया। वह खड़े हुए और कहा—बैठो मैं अभी आया।

कहकर वह चले गए और मैं कटा हुआ सा सूने उस बरामदे में अपने रोष को लेकर एकाएक अकेला बैठा रह गया। बहुत विचित्र मालूम हुआ उनका व्यवहार और तर्क का तार जिस जगह टूटा था उसके प्रतिवाद का जोश मुझमें उफना आ रहा था।

आये तो उनके हाथ में लस्सी का गिलास था। कहा—"लो, पियो। गर्मी है, ठंडक आयेगी।"

गिलास हाथ में लिया और मैंने बराबर तख्त पर रख दिया। कहा—"कहिए, मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

"अरे भई, पहले पियो तो।"

"आपने वृथा यह कष्ट किया।"

"देखो न कितनी गर्मी है और यहां पंखा भी नहीं है। माफ करना, बर्फ घर में नहीं है और लस्सी शायद काफी ठंडी न हो। पियो, पियो, शर्माओ मत। तुम्हारा ही घर है।"

उपाय न था और मन ही मन मैं झल्ला रहा था कि किस जगह आकर फसा। लेकिन मिस्टर वर्मा से मुझे मिलना था और मै अवश्य चाहता था कि एच० एम० से जो बात निकली है, उसकी पूर्ति मे मैं किसी न किसी तरह काम आऊ, जिससे वहा तक मेरी रसाई हो सके। गिलास लेकर मैं सिप करता जाता था और शर्मा जी की ओर इस प्रत्याशा से देखता जाता था कि वह पिघलेंगे और मेरा काम पूरा हो जाएगा। लेकिन मालूम होता था, लस्सी के गिलास से बाहर किसी देश और सदाचार की उन्हे चिन्ता नही है और उनका मानस घिरा और सिमटा है।

पर तौवह, उस ढीम गिलास के आधे तक आने मे मेरी सामर्थ समाप्त हो गई और गिलास को मैंने एक तरफ कर देना चाहा।

शर्मा जी बोले—"अरे भई, जवान हो। यह क्या, पूरा पी डालो।" लेकिन वह किसी तरह मभव न हुआ, और मैं लज्जित हो आया और शर्मा जी ने कृपा की और मैंने अन्तिम बार कहा कि बताया जाय कि समिति मे होने की अनुमति मैं प्राप्त मान सकता हू कि नही ?

शर्मा जी के चेहरे की कठोरता एकाएक बेहद उघर आई। बोले—"तुम जवान हो, साफ कहो, किसने तुम्हें भेजा है ?"

मैं घबराया। बोला—"भेजा ! जी नही—"

"समिति तुम नही बनाये हो, नही बना सकते हो। यह काम राज्य के मत्री से शुरू हुआ है। सचमुच काम भी उन्ही का है। सदाचार कानून से चलेगा और बनेगा। जैसे दुराचार स्वभाव हो आदमी का ! तुम्हारे कधे क्यो फालतू हैं कि उस बोझ को ढोते हो। बडी ताकत है कानून के पास। क्यो उसका भरोसा नही करते हो और उसमे दखल देने पहुचते हो ? फिर कहने आते हो, वैसी बेवकूफी मैं करू 'सच बोलो, किसने भेजा है ?"

"जी नही।"

मेरी मुद्रा शायद इसी योग्य हो आई होगी। शर्मा जी मुख देखकर

हमे। बोले—"अच्छा अच्छा, किसी ने न भेजा सही। पर भाई सदाचार के लायक तो मैं हू नही। सिर्फ तीन सौ रुपये मेरी आय है, सोचने की बात है कि तीन हजार मासिक आय से पहले सदाचार क्या शुरू भी हो सकता है?"

मैं तो भौंचक्क होकर शर्मा जी की ओर देखने लगा। वह कहने के अनन्तर कुछ हस आये और वह हसी बहुत निर्मल मालूम होती थी। लेकिन देखते देखते वह चेहरा कस आया और मानो उन्होंने डपट के साथ मुझे देखा। बोले—"तुम यहा आये हो, सदाचार के बारे मे पूछते हो। तुम्हे बैठने को कुर्सी नही मिली। गर्मी मे हवा का पखा नही मिला। लस्सी मे बर्फ नही मिल सका। मैं पूछता हू, यह सदाचार है? जितनी देर तुम्हारे साथ बैठा रहा हू, लगता रहा है कि मैं यथायोग्य तुम्हारा सत्कार भी जो नही कर पा रहा हू, सो दुराचार कर रहा हू। आमदनी होती तो मैं तुम्हे सोफा पर बिठा सकता था और तुम्हारी खातिर जरा तरीके से कर सकता था' समझे? सदाचार पैसे से होता है, इसलिए पैसे के लिए जो किया जाता है, उसे दुराचार मानना इकतरफा है'''भ्रष्टाचार तुम लोग किसको कहते हो? मेरा यह आचार भ्रष्ट क्यो नही है कि मैं जी खोल कर स्वागत सत्कार भी नही कर सकता। क्यो मैं दबा और सिमटा रहता हू! खर्च कम करने की फिक्र मे रहना क्या कभी सदाचार हो सकता है? इसलिए गलती करते हो, अगर सदाचार मे मुझे आगे करना चाहते हो। मिनिस्टर लोग, अफसर लोग हैं, जिनको हक है कि सदाचार करें और कराए। 'तुमको किसी ने भेजा नही है, खुद आये हो। मुझे यकीन नही करना चाहिए इस बात का। तुमने पालिटिक्स मे एम० ए० किया है। तुम ऊचा देख सकते हो, मैं जानता हू कि ऐसी भूल तुम्हारे बस की नही हो सकती। समझदारी का रास्ता यह नही है। लेकिन लोग है जो राज भी चाहते हैं और सदाचार भी चाहते हैं। दोनो चाहे अपनी जगह नही है'''उनसे जाकर कहना, अगर इशारा तुम्हे वहा से मिला है, कि शर्मा की आमदनी जिस

रोज वे तीन हजार मासिक की बना देंगे, उस रोज से वह अवश्य सदाचार शुरू कर देगा । और जिस समिति मे कहो, होने की योग्यता पा जाएगा । फिर अनुमति का सवाल नही रह जायेगा । बल्कि समितियो पर होने की आतुरता उसमे होने लग जाएगी । ··· ऐसे न देखो, जैसे मैं बात अनोखी कह रहा हू । बताओ तुम्हारी आमदनी कितनी है ? —बताओ भी ।"

"जी ?"

"अरे भई, मैं इन्कमटैक्स का आदमी नही हू ।"

"जी ·जी नही ।"

"छोडो छोडो, मैं देख सकता हू कि तुमने अपने लिए सदाचार का काम जो चुना है सो ठीक चुना है । आमदनी तुम्हारी ठीक ठाक लगती है। इसलिये तुम्हारा चुनाव भी ठीक है। लेकिन अगर आमदनी ठीक नही हो तो फिर उसको ऊची और काफी बनाने के लिए भी उस कार्यक्रम का चुनाव मुनासिब समझा जाएगा । यानी तुमको देखना चाहिए कि हर तरफ से सदाचार का सम्बन्ध समीचीन आय से हो जाता है । · "

मैं शर्मा जी को अविश्वास की निगाह से देखता रह गया ।

कहते कहते वह खडे हो आये । मानो उन्होने पहचान लिया कि मैं चला जाना चाहता हू और मानो वह भी अपनी ओर से विदा के लिए तत्पर हैं ।

उन्होने कहा—"लेकिन सदाचार के साथ दुराचार भी आमदनी को बढाने चढाने की कोशिश मे होता बताया जाता है ।···मेरे भाई, यही मुश्किल है । माफ करना, तुम्हे मैं कोई सीधा जवाब नही दे सकता । सदाचार बिना बढी-चढी आय के हो नही सकता । बढी-चढी आय के लिए ही फिर दुराचार किया जाता मालूम होता है । इसलिए मैं तो चक्कर मे हू । लेकिन तुम लोगो के प्रयत्नो की सफलता चाहता हू ।"

मैं खुद चक्कर मे हो आया। खडा हुआ तो सचमुच जैसे घिरनी आ गई । मैं कुछ बोल नही पाया । ठीक तरह विदा का अभिवादन भी नही

कर सका।

शर्मा जी ने शायद मेरी हालत देख ली हो, उन्होंने मुझे गले से लगाया फिर अलग करते हुए कंधे पर थपथपाकर कहा—"हम जैसे भटके लोगों की चिन्ता न करना। जवान हो, और अपने सेवा के कामों मे दत्त-चित्त होकर बढते रहना और यशस्वी होना।"

—इसी से कहता हू, मैं चक्कर मे हू, बडे चक्कर मे हू और कष्ट ये है कि चक्कर सदाचार मे से बन गया है।

जुलाई '६५

विक्षेप

दिल्ली विश्वविद्यालय के नये कान्वोकेशन हाल मे जलसा जारी था। एक व्यक्ति सीधा चलता हुआ आया। देह पर सिर्फ कोपीन और हाथो मे कुछ अटर-सटर। मच थी तक आकर वह आराम से बैठ गया और हाथ की चीजो को एक पर एक चिनकर सामने अपने एक स्तूप का निर्माण कर लिया। सकेत हुआ कि उसे उठा दिया जाय। पर प्रगट हुआ कि चलती हुई सभा का ध्यान ऐसे और भी अधिक उसकी ओर आकृष्ट होगा और उससे विघ्न अधिक ही बढेगा। किन्तु वक्ता बोलना समाप्त करके, से हटकर गये तो यह महाशय बढकर वहा अपना वक्तव्य देने आ पहुचे। पहुचते थे कि इधर-उधर से दो-चार प्राध्यापक लपके और एक ने तो उन महाशय की गर्दन ही जा धरी। इस भाति हाल से उनको बाहर किया गया। सबने माना, वह विक्षिप्त थे। क्या कहानी के लिए भी यह मानना आवश्यक है?

* * *

अहा-हा! क्या माया है! उस्ताद, मानता हू तुझे। हम परमात्मा है, लेकिन मान लिया कि तू भी है। क्या आसमान से पानी बरसता है— धार की धार, धार की धार! लेकिन तू समझता होगा कि सब किसी को भिगो देगा? पर हम भी हैं कि देख तो भिगो के! ले साली, यही तो भीगेगी! [और एक झपाटे मे उसने कोपीन खोलकर बरसते पानी मे आसमान मे फहराई और फिर उसको मुट्ठी मे बाध लिया।] अब बता, तू हमे कैसे भिगोयेगा? वह तो मुट्ठी मे है, जो भीग सकती थी! हम हैं तेरे सामने, कर ले जो तेरे बस मे हो। एक बूद पानी नही छू सकता। बरन ले जितना चाहे और बरसा ले तू जितना चाहे! हमारे बदन पर

गिर के आसू की तरह आप ही ढरता जाएगा सब । अपने को क्या, अपन सूखे-के-सूखे !

वारिश होते-होते कम हुई और फिर थम गई । महाशय उस वक्त सडक पर थे । सडक सूनसान थी । वारिश रुकी तो महाशय ठट्ठा मार कर हसे ।

...अब बोल ! देखा कि नही ? यह है इस हम परमेश्वर का करतब ! ले खोलता हू । यह रही जो भीग सकती थी । पर तुझ से तो इसका भी कुछ न विगडा ! आ, वेटी आ जा ! अपनी जगह आराम से हो जा !

महाशय ने कोपीन को यथास्थान वाध लिया । चलते-चलते देखा कि वाईं तरफ दरवाजा है और सडक साफ है । सामने भी सडक है, सडक वाईं तरफ भी है । पीठ की तरफ मुडकर देखा कि सडक पीछे भी है । ऊपर आसमान की तरफ देखा कि सडक उधर भी हो सकती है । भई, वाह ! उन्होने सिरके वढे हुए वालो मे हाथ फेरा । ठोढी पर वढती हुई दाढी पर भी हाथ सहलाया और सोचा, सोचने की आवश्यकता थी ! देखो न, जिधर देखो, सडक ही सडक ! ऐसे समय विचार ही काम दे सकता है । इधर से तो हम चलकर आ रहे है ! अब रही तीन तरफ ! सामने, दायें, वाये ! ऊपर की वात छोड दो । हम सीधे आसमान की तरफ सडक वनाते हुए जा सकते है, पर उधर ऊपर साला परमात्मा रहता है । दो परमात्मा कैसे रह सकते हैं ? इसलिए हम ऊपर नही जाएगे । ऊपर वाला टगा रहे चाहे तो ऊपर ही ! क्या करेगा ? पानी वरसा देगा ! धूप फेंक देगा ! विजली गिरा देगा ! पर इसमे हमारा वह क्या कर सकता है ? देखो, हम हैं कि सामने जाए, चाहे दाए जाए, चाहे वाए जाए । वह तो वैठा है अधर मे जहा का तहा ! हम हैं कि चल रहे हैं । मरजी है कि नही भी चलें ! या चाहे इधर चलें, चाहे उधर चलें, चाहे किधर भी चलें !

पर नही, दाये नही, वायें ! दायें तो दक्षिण होता है । दक्षिण मे

सिर्फ दक्षिणा हो सकती है। वाम मे होती है वामाग्नी कहो, कैसे रहे ? अहा हा-हा। इसीलिए देख लो, बाईं तरफ ही दरवाजा है ! द्वार से होता है द्वाराचार ! चलो भई, द्वाराचार देखे !

वाह भई ! मानना होगा लोगो को ! जभी तो विश्वविद्यालय कहते है ! क्या खूब बनाई है इमारत ! कितना पैसा लगा होगा ? बड़ा पैसा लगा होगा ! पैसा साला बहुत लगता है। जाने यह पैसा कहा रहता है ? हमको तो दीखती नही जगह ? पर है साले मे करामात ! इधर दो, उधर जलेबी का दोना तुम्हारे हाथ मे ! और वह जलेबी वाला बनाता ही है, खाता नही है, न घर ले जाता है ! पैसा दो और जलेबी ले लो। या और चाहे कुछ तो वह ले लो। पर हम परमात्मा को पैसा क्या करेगा ? जलेबीवाला आज हमको जलेबी नही दिया। बोलता, पैसा लाओ ! हम हस दिया। हमने का बात है कि नही ? जलेबी वह खाता नही है और पैसा मागता है ! पर पहचानता नही हम परमात्मा हैं। क्या पैसा, क्या जलेबी ! हम सबको लात मार सकता है !

विश्वविद्यालय ! यहा लोग विद्या पढते हैं। पढकर विद्या को पढाता है। पढा कर क्या करता है ? पैसा पाता है, पैसा हाथ से देकर जलेबी पाता है। जलेबी खा के फिर पढाने आ जाता है। पढा के पैसा लेके फिर खाता-पीता-पहनता है। एई हो विद्या का चक्कर।

अलबत चक्कर ! हम खायेगा, काहे कि खाना स्वाद लगता है ! पर उनके वास्ते करेगा काहे को ! खाने के वास्ते पढायेगा, पढा के पैसा पा के खायेगा। हम मुफ्त पढायेगा ! मुफ्त खायेगा। जिन्दगी हमारी है और आजाद है और मुफत ! एकदम मुफत !

ओ-हो-हो ! यह बारिश फिर होना मागता है। बादल काला हो गया है। ऊपर घूमता है। हम नही भीगा, पर बाल काला है और साला वह भीग जाता है। (और उसने सिर के बालो को दबाकर हाथ मे सूता।) इस बार यह नही होएगा। हम एक दम नही भींगेगा, बाल भी नहीं भींगेगा। कुछ भी नही भीगेगा। और महाशय ने कान्वोकेशन हाल

गिर के आसू की तरह आप ही ढरता जाएगा सब । अपने को क्या, अपन सूखे-के सूखे !

वारिश होते-होते कम हुई और फिर थम गई । महाशय उस वक्त सडक पर थे । सड़क सूनसान थी । वारिश रुकी तो महाशय ठट्ठा मार कर हसे ।

"'अव वोल ! देखा कि नही ? यह है इस हम परमेश्वर का करतव ! ले खोलता हू । यह रही जो भीग सकती थी । पर तुझ से तो इसका भी कुछ न विगड़ा ! आ, वेटी आ जा ! अपनी जगह आराम से हो जा !

महाशय ने कोपीन को यथास्थान वाध लिया । चलते-चलते देखा कि वाई तरफ दरवाजा है और सडक साफ है । सामने भी सडक है, सडक वाई तरफ भी है । पीठ की तरफ मुडकर देखा कि सडक पीछे भी है । ऊपर आसमान की तरफ देखा कि सडक उधर भी हो सकती है । भई, वाह ! उन्होने सिरके वढे हुए वालो मे हाथ फेरा । ठोढी पर वढती हुई दाढी पर भी हाथ सहलाया और सोचा, सोचने की आवश्यकता थी ! देखो न, जिधर देखो, सडक ही सडक ! ऐसे समय विचार ही काम दे सकता है । इधर से तो हम चलकर आ रहे है ! अव रही तीन तरफ ! सामने, दाये, वायें ! ऊपर की वात छोड दो । हम सीधे आसमान की तरफ सडक वनाते हुए जा सकते है, पर उधर ऊपर साला परमात्मा रहता है । दो परमात्मा कैसे रह सकते है ? इसलिए हम ऊपर नही जाएगे । ऊपर वाला टगा रहे चाहे तो ऊपर ही ! क्या करेगा ? पानी वरसा देगा ! धूप फेंक देगा ! विजली गिरा देगा ! पर इसमे हमारा वह क्या कर सकता है ? देखो, हम हैं कि सामने जाए, चाहे दाए जाए, चाहे वाए जाए । वह तो वैठा है अधर मे जहा का तहा ! हम हैं कि चल रहे हैं । मरजी है कि नही भी चलें ! या चाहे इधर चलें, चाहे उधर चलें, चाहे किधर भी चलें !

पर नही, दायें नही, वायें ! दायें तो दक्षिण होना है । दक्षिण मे

सिर्फ दक्षिणा हो सकती है। वाम मे होती है वामाग्नी कहो, कैसे रहे ? अहा हा-हा। इसीलिए देख लो, वाई तरफ ही दरवाजा है ! द्वार से होता है द्वाराचार ! चलो भई, द्वाराचार देखें !

वाह भई ! मानना होगा लोगो को ! जभी तो विश्वविद्यालय कहते है ! क्या खूब वनाई है इमारत ! कितना पैसा लगा होगा ? बडा पैसा लगा होगा ! पैसा साला बहुत लगता है। जाने यह पैसा कहा रहता है ? हमको तो दीखती नही जगह ? पर है साले मे करामात ! इधर दो, उधर जलेबी का दोना तुम्हारे हाथ मे ! और वह जलेबी वाला बनाता ही है, खाता नही है, न घर ले जाता है ! पैसा दो और जलेबी ले लो। या और चाहे कुछ तो वह ले लो। पर हम परमात्मा को पैसा क्या करेगा ? जलेवीवाला आज हमको जलेबी नही दिया। बोलता, पैसा लाओ ! हम हस दिया। हसने का वात है कि नही ? जलेबी वह खाता नही है और पैसा मागता है ! पर पहचानता नही हम परमात्मा है। क्या पैसा, क्या जलेवी ! हम सबको लात मार सकता है !

विश्वविद्यालय ! यहा लोग विद्या पढते है। पढकर विद्या को पढाता है। पढा कर क्या करता है ? पैसा पाता है, पैसा हाथ से देकर जलेवी पाता है। जलेबी खा के फिर पढाने आ जाता है। पढा के पैसा लेके फिर खाता-पीता-पहनता है। एई ढो विछा का चक्कर।

अलवत चक्कर ! हम खायेगा, काहे कि खाना स्वाद लगता है ! पर उसके वास्ते करेगा काहे को ! खाने के वास्ते पढायेगा, पढा के पैसा पा के खायेगा। हम मुफ्त पढायेगा ! मुफ्त खायेगा। जिन्दगी हमारी है और आजाद है और मुफ्त ! एकदम मुफ्त !

ओ-हो-हो ! यह वारिश फिर होना मागता है। वादल काला हो गया है। ऊपर घूमता है। हम नही भीगा, पर वाल काला है और साला वह भीग जाता है। (और उसने सिर के वालो को दवाकर हाथ से सूता।) इस वार यह नही होएगा। हम एक दम नही भीगेगा, वाल भी नहीं भीगेगा। कुछ भी नही भीगेगा। और महाशय ने कान्वोकेशन हाल

के पोर्च मे दौडकर दाखिल हो जाते है।

ले भाई, ठीक है। अब वरस ले, जितना जी चाहे! वाह उस्ताद परमात्मा, तू भी पानी का वडा भण्डार जमा करके रखता है! हम पढते थे, मानसून है और पानी का भाप वनता है, उसमे से वादल वनता है और समन्दर के किनारे से उडते-उडते जहा-तहा पहुचकर वापिस पानी वरसाने लग जाता है। यह विग्गान है। हम विज्ञान पढे थे और विद्यालय मे विज्ञान पढाया जाता है। ऊचा विज्ञान, तरह-तरह का विज्ञान! पर हम हसता है और परमात्मा हसता है। और वह पानी वरसाता है। हमारे पास पानी करने का वडा सामान नही है। नही तो हम भी हसी को पानी वना के वरसा देना! तो हम अव हसी को ही सीधा वरसाता है। काहे कि लोग विज्ञान की वात करता है। पानी को पानी नही वोलता है, कुछ और वोलता है। हाइड्रोजन आक्सीजन वोलता है! काम की वात को वेकाम वना के विज्ञान वोलता है। पानी का प्यास लगता है, और हम पानी पी लेता है। तुम भी पी लेता है। सव लोग पी लेता है, पर विज्ञानी पीता नही है। विश्लेपण करता है। विश्लेपण से पानी को उडा के कुछ और वना देता है। कहता है यह नही है, वह है। और वह वह नही है, यह है। आदमी आदमी नही है, तत्व है। और तत्व आत्मा है और आत्मा हम तुम नही हैं, पार है! ठीक है, पार है। हम आत्मा है, हम परमात्मा है, हम विज्ञान हैं!

महाशय ने पो के वाहर देखा। पानी पड़ रहा था। सामने देखा पानी पड रहा था। मुडकर पीछे देखा, पानी पड रहा था। लेकिन वाई तरफ पानी नही था, सीढिया थी। सीढियो के वाद वरामदा था। वरामदे के वाद फिर सीढिया थी और तव दरवाजा आता था।

महाशय ने उस सव स्थान को गौर से देखा जो ढका था और जहा पानी नही पड रहा था। मालूम हुआ कि यह अनोखा घटना है। पानी तीन तरफ है, एक तरफ नही है। और जिधर नही है, उधर आसमान भी नही है। वहा दीवारें हैं और ऊपर छत है। दिशाए उससे

रुक गई हैं और आकाश खतम हो गया है। महाशय को यह सचमुच ही बहुत विलक्षण मालूम हुआ। दिशा अनन्त हैं, और आकाश सर्वव्यापी है। लेकिन ठोस ईंट के जोर से अनत खतम हो जाएगा, और सब कही होने वाला आकाश बाहर ही रोक कर खडा कर दिया जायेगा।

और वहा फिर क्या होगा ? विद्या होगी और उसका आलय होगा। विश्वभर की विद्या को लाया जाएगा और दिया जाएगा। विश्श विद्यालय। कारण कि विद्या अनत मे उड न जाए। और घिर के बन्द व सुरक्षित रहेगा।

उसने सब तरफ देखा। वह अब पहली सीढियो से चढकर ऊपर आ गया था। आखो से देखा, फिर पास जाकर दीवार पर हाथ लगाकर देखा। ठीक है, और मजबूत है। हवा आर-पार नही जा सकती है। उसे अनुमान न हुआ, दीवार कितनी घनी होगी। उगली मोडकर उसके कोने मे उसने दीवार को ठकठकाया। ठक-ठक को फिर कान पास लाकर सुना। उसने अपने को पूरा विश्वास दिला लिया कि दीवार पोली नही है, बल्कि खासी मोटी है। उसने ऊपर छत की ओर देखा। जैसे उसने कोशिश की कि इस छत को भेद कर उसकी निगाह पार जा सके। वह देर तक इस तरह देखता रहा। छत ज्यो की त्यो रही और उस निगाह को अपने मे पीती समाती चली गई। मालूम हुआ कि वहा कुछ भी जुम्बिश नही हुई और छत ऐसे टिकी है जैसे अतिम और परमसत्य वही हो। उसको एक क्षण के लिए अपने बारे मे सशय हुआ। यह कि क्या वह परमात्मा नही है ? छत अपनी जगह से उड नहीं रही थी। मानो उसके दर्शन को रोकने को अडी हो। पर उसका दर्शन परम है, अबाध है। बाधा कही हो नही सकता। इसी से वह परमात्मा है। लेकिन निगाह ने छत उडी नही, नही उडी, तब वह हसा ! उसकी मुस्कराहट परम उत्तीर्ण थी। जैसे मानो वह कृपा कर रहा हो। फिर उसने ऊपर को मुह किया और छत की तरफ फूक छोड़ी। सचमुच फूक ने छत वह उड़ गई। एकदम उड गई और दिक्-काला-आकाश सब

एकदम खुल आए और तव मानो विजय गर्व मे वह आगे वढा।

सभा शुरु हुए समय हो चुका था। अव चौकसी की आवश्यकता न थी। इसलिए हाल के दरवाजे पर कोई न था। लोग सव मच पर होती हुई कार्रवाई देखने और सुनने, सुनने से अधिक देखने और देखने से अधिक सुनने, मे तल्लीन थे।

महाशय वह द्वार पर ठिठके। एक निगाह मे सव कुछ को उसने समेटा। दूर, नीचे किन्तु ऊपर, मच था, जहा पाच-सात कुर्सियो पर पाच-सात लोग वैठे हुए थे। वरावर मे एक पुरुष खडे हुए वोल रहे थे। वाकी नीचे कुर्सियो मे वैठे थे। उनकी पीठ महाशय की तरफ थी और मुह मच की तरफ था। उसने ऐसे देखा, जैसे दिक्कालजयी हो। रास्ता सामने निर्वाध था। वल्कि वनात-विछा था। वहाँ परे कुछ कहा जा रहा था और सुना जा रहा था। लेकिन उसके कानो मे कुछ नही पडा। उसे लगा कि वस प्रतीक्षा है। वेशक उसी की प्रतीक्षा है। उसने अपने हाथ की साफी को झाडा। दूसरे सामान को भी इस हाथ से उस हाथ किया। सामान मे कागज के गत्ते का वना हुआ एक डिव्वा सा था जिससे भोपू का काम लिया जा सकता था। फटी पुरानी जर्जरनुमा एकाध किताव थी। पास मे सरकडे की मानो एक पेन्सिल थी। यह सव कुछ पहले वायें से उसने दाहिने हाथ किया, और दाहिने से फिर वायें हाथ। शायद उसे सन्देश देना था और इस प्रकार वह उसी की तैयारी कर रहा था। उसने फिर एक वार चारो ओर आख घुमाकर देखा। जैसे अपने को और अवसर को तोला। मानो उसने उस थोडे समय मे भरपूर भर लिया। भर लिया कृपा से जो उसके अन्दर यहा इस प्रकार नितान्त ग्रहणशील भाव मे वैठे हुए लोगो के लिए उसमे उदय हो आई थी। एक गहन अगाध अनुकम्पा कि विचारे मूर्ख हैं कि यहा वैठे हैं। वाहर आकाश है और वर्षा है और अनन्त है और शून्य है। यहा दवे-लिपटे वैठे हैं। वाहर आते तो देखते कि भीगा कैसे जाता है। और देखते कि भीगने से वच कौन सकता है। कोई नही वच सकता। उस परमात्मा की वर्षा

से बस यह हम परमात्मा ही बच सकता है, जो सब कुछ है, और जिसे कुछ नही छूता है। हा, हम, हम, हम।

हाल मे दोनो तरफ कुर्सिया लगी हुई थी और बीच मे से मार्ग छूटा था जो मच तक जाता था। मानो सब कुछ का निरीक्षण करने के बाद, उसके मन मे अपना कर्त्तव्य स्पष्ट हो चुका था। वह बिन्दु स्पष्ट हो चुका था, कि जहा पहुचना और जमना है। जहा कुछ देर अपने को समाहित करने के बाद परम दया मे इन बिखरे और भूले हुओ को अपना सन्देश देना है। मुक्तिदायी और परम हितकारी सन्देश! सन्देश कि ए पढे-लिखे लोगो, मूर्ख बने यहा क्यो बैठे हो? लो, यह मै आता हू। सुनो, और बस यहा से भाग जाओ।

बीच के मार्ग मे से मानो ध्यानस्थ और अवध्यानस्थ वह बढा और बढता हुआ चला गया। एकाग्र, एकनिष्ठ। पता तब चला जबकि ठीक मच के समक्ष वह खडा हुआ और उसने क्रमश सामने देखा, दायें देखा, बायें देखा। अध्यक्ष के सामने मेज थी और उस पर गुल-दस्ता था और घडी थी और पहनाए गए पुष्प हारो का ढेर सा था। उस सबके बीच मे आ जाने से अध्यक्ष को वह मूर्ति दिखाई न दी। पर व्यवस्थापको का ध्यान गया और श्रोताओ ने भी इस निस्सग-निर्ग्रंथ पुरुष को देखा। किन्तु अब तक वह स्थिति का पारायण पूर्ण कर चुका था और आसन मार के वही बैठ भी गया था। आसन पद्मासन नही था, और थोडी देर मे ही उसे मालूम हो गया कि वह तो पद्मासन ही चाहिये। तनिक उठकर झाडे गए झाडन को उसने अपने नीचे लिया और दिव्य-भाव के साथ वह पद्मासन लगाकर बैठ गया। तब उस गत्ते के भोपू को उसने अपने समक्ष मानस्तभ की भाति टिकाया और उस पर विश्व कोष रूप वह जन्त्री प्रतिस्थापित की। फिर अभिषेकपूर्वक वहा सरकडे के कलम को प्रस्थापित किया। मानो ज्ञान के सुमेरु की ही उसने इस प्रकार रचना कर ली। फिर दृष्टि को नासाग्र करके मन ही मन उसने कुछ उच्चारण करना आरम्भ किया। ओठ अवश्य

उसमे बुदबुदा जाते थे किन्तु ध्वनि बाहर नही आती थी। कुछ क्षण उपरान्त उसने उस ज्ञान के सुमेरु को शीश नवाकर नमस्कार किया। अनन्तर अब तक अर्ध-निर्मिलित अपने नेत्रो को सर्वथा ही निर्मिलित करके वह ध्यानमग्न हो रहा।

व्यवस्थापक ने सकेत किया। दो ओर से दो व्यक्ति बढ़े। एक निकट ही आ गया और मानो उस व्यक्ति ने इन ध्यानस्थ योगी को कन्धे पर तनिक छुआ। योगी ने बाया हाथ तनिक हिला दिया। जैसे कि योग मे विघ्न डालने मे वर्जित किया हो। आख उसने नही खोली और बायें हाथ की झिडकी का वह सकेत ही मानो भरपूर पर्याप्त हुआ। दूसरी दिशा से आता हुआ व्यक्ति इन व्यापार पर अपने स्थान पर रुका रह गया और पहले व्यक्ति ने देखा कि कार्य कुछ कठिन है। वह असमजस मे हुआ। उसने करुणभाव से निगाह उठाकर व्यवस्थापकाध्यक्ष से आगे के लिए वे फर्मान मागा। सकेत हुआ कि छोडो, छेडने की आवश्यकता नही है। और वे स्वय सेवक दोनो फिर जैसे के तैसे अपनी-अपनी दिशा मे लौट गए।

आखें अब खुल आई थी। वह देख रहा था। देख रहा था कि लोग पीछे बैठे है और पाच-सात जने सामने भी बैठे हैं। एक कुछ खडे होकर यत्र मे कह रहे हैं और सब सुन रहे हैं। क्या कहा जा रहा है और क्या सुना जा रहा है? क्यो इन्हे इतना श्रम है कि बैठे है और सुन रहे हैं। सुनना है तो हमे सुने। या फिर कुछ योग ही करें। और उसकी अपनी तरह अनढके क्यो नहीं बैठते? ऐसे बेकार और पहने और लिपटे क्यो बैठे हैं? और सामने ज्ञान स्तूप बनाकर क्यो नही बैठते कि जैसे मैं बैठा हू।

और क्या सब बच्चे हैं? पागल हैं? इतना नही समझते कि मैं बैठा हू। ढग मे तो व्यवहार करें!

ऐं, यह हो क्या रहा है? शायद सभा हो रही है। ठीक है कि सभा हो रही है। पर क्यो हो रही है सभा? कुछ और क्यो नहीं हो

रहा है । पागल है कि देखो कि करने को वस सभा ही कर पाते हैं । और यह कौन है कि जो बीच मे बैठा है । आखो पर चश्मा हैं और चमकती चाद है। कैसा बैठा है कि हस तक नही रहा है । लगता है कि हस ही नही सकता है । जैसे आटे का न हुआ ज्ञान का ही पिंड हो । जान की जगह उसके अन्दर कुछ वह हो जो जड पडकर सिल हो गयी हो ।

एकाएक अट्टहास हुआ । लोग चौंके । सबका ध्यान उधर गया जिधर जाना था । लेकिन जोर के ठहाके के वाद वह आख मीचकर अपने सामने के सुमेरु के आगे हाथ जोड कर नमन करने लगा था । बराबर से स्वयसेवक फिर लपकने को हुआ । पर व्यवस्थापक की ओर से सकेत हो गया कि जाने दो, जाने दो ।

सब शान्त था और उसकी आखें खुल आई थी । उसने देखा कि वक्ता हाथ जोड रहा है। अपनी जगह से उसने हाथ जोडे । तभी सुनाई दिया कि तालिया वज रही है । उसने भी ताली वजाई । लेकिन एकाएक क्या देखता है कि यत्र के सामने का स्थान खाली है। बोलने वाला लौट गया है और तालिया पीछे से वजी जा रही हैं ।

ठीक है । ठीक यही अवसर है। सबको इसी की प्रतीक्षा है । पागल हैं तो भी मेरी अपेक्षा मे है। बच्चे हैं और उन पर दया करने को चलना होगा । कुछ कहना होगा । कहना होगा और बताना होगा । बताना होगा कि यह सब नही है कि जो है । प्रमच है वह सब जो तुम करते रहे हो और करते रहते हो । देखो, यह मैं आता हू और बताता हू । बताता हू कि· ··

वह अपनी जगह से उठा । अपने नीचे की साफी उठाई, फिर समझ कर उसने उसे वही छोड दिया । अब वह गिनती की सीडिया चढता हुआ मच पर पहुचा । पहुचा, पहुचा कि गर्दन पर उसके एक कसा हाथ पडा । गर्दन दबोच ली गई थी और उसे ठेल कर बरबस एक ओर ले जाया जा रहा था । गरदनिया वाला हाथ चाहे एक ही रहा हो,

पर अनेक जन और थें ।

उसमे हुआ कि हाय, ये नही जानते है ! हुआ कि मैं इन्हे क्षमा करता हू । और तब ऊपर वाले परमात्मा से भी उसने कहा कि सुन, तू भी इन्हे क्षमा कर देना । बेचारे है और पागल हैं । हम-तुम जैसे परमात्माओ को पहचान नही सकते है !

अगस्त '६५.

मुक्ति ?

प्रश्न था कि क्या स्त्री को मुक्ति मिल सकती है ?

चर्चा मे तीन व्यक्ति थे। श्री शाडिल्य, उनकी पत्नी मनोरमा और आगत अतिथि श्री आर० नारायण।

शाडिल्य व्यस्त वकील थे, अब उससे अधिक चिंतक हैं। मनोरमा ने घर को सम्पन्न और सुव्यवस्थित पाकर अपने समय को खाली बैठे लिखने मे लगाया और देखते देखते साहित्य मे अपना स्थान बना लिया हैं। आर० नारायण आरम्भ मे मुवक्किल के तौर पर मिले, पर धीरे-धीरे वह परिवार के मित्र बन गए है। ऊचा उनका व्यवसाय है और तात्विक विषयो मे बुद्धि द्वारा रस लेने का उन्हे चाव है।

आर० नारायण का दृढ मत है कि स्त्री को वह सब प्राप्त हो सकता है, जो पुरुष को। उसकी क्षमता कम नही है किसी अर्थ मे, हा, अधिक अवश्य मानी जा सकती है।

शाडिल्य सहमत होने को तैयार हैं। लेकिन प्रश्न को व्यर्थ मानते हैं। क्योकि वह मुक्ति को मान भी ले तो समझ नही पाते हैं।

मनोरमा का विश्वास है कि स्त्री मुक्ति नही पा सकती। पा सकती होती तो उसके लिए माता बनने का विधान न होता। शरीर से वह ऐसी बनी है कि मुक्त होने की नही सोच सकती है। कारण, उसे सफल होना है। उसका भी कारण कि सृष्टि को चलते रहना है।

नारायण ने कहा—"भाभी जी, आपकी उक्ति मे कटूक्ति तो नहीं है ? मुझे उसमे व्यंग्य की ध्वनि मालूम होती है।"

मनोरमा ने कहा—"व्यग्य ! नही तो।"

शाडिल्य मौन रहे। मानो उन्हे कुछ कहना नही था। नारायण ने

उनकी ओर देखा, और देखा कि वह किसी ओर नही देख रहे है, खोये से है। उसने कहा—"स्त्री को परवश रहना होता है, क्या यही आप कहना चाहती है ? लेकिन भाई साहब तो किसी को वश मे रख नही सकते। उस तरह की कल्पना ही इनमे नही है। और फिर यह तो समाज की प्रथा की बात है। विवाह परवशता नही है।"

मनोरमा ने देखा कि चर्चा अब तत्व की नही रह गई है, एकदम पास आती जा रही है। उसको कुछ सकोच हुआ। फिर भी उसने कहा—"परवशता की बात मैं नही कहती। विवाह मे भी कोई परवशता नही है। पर स्वतन्त्रता स्त्री को पूरी तरह प्रिय ही नही होती। आप उठा दीजिये विवाह का बन्धन, या परिवार का दायित्व। सारे समाज को ही चाहे तो आप उजाड दीजिये। परस्पर कर्त्तव्य का प्रश्न ही मिटा डालिये। फिर भी स्त्री अपने राग-तन्तुओ से अपने लिए बन्धन पैदा किए बिना न रहेगी। इसलिए मुक्ति की सम्भवता उसके लिए नही है। मैं तो कहूगी की सगतता ही नही है।"

शाडिल्य अब भी कुछ नही बोले। उनकी दृष्टि दूर थी और मानो वह अन्यमनस्क थे। नारायण ने देखा और पूछा—"और पुरुष ?"

"पुरुष !" कहते कहते जैसे मनोरमा रुकी। और बोली—"वह रह सकता है स्वप्न मे, या महत्वाकाक्षा मे। रागात्मकता हम स्त्रियो की प्रकृति होती है। पुरुष के लिए वह परिग्रह है। लगता है, उसमे वह घिरता है और उसकी सारी कोशिश छूटने की हो रहती है। इस तरह मुक्ति की धारणा वह पैदा करता है और उसको अपनी साधना बना लेता है। कहते हैं, स्त्री और पुरुष परस्पर योग और सहयोग के लिए है। लेकिन यह साबित सच नहीं है, पुरुष को वियोग उससे अधिक आवश्यक मालूम हो सकता है ! योग-सहयोग जैसे शब्द उसे वहा रास्ते-से लगते है। असल मे वह वियोग ढूटता है। वियोग शब्द तक को उसने इसलिए इतना ऊचा उठा दिया है कि उसका अर्थ ससार से वियुक्त होना बन गया है, युक्त बस किसी परमेश्वर से। जिसका आवश्यक अर्थ

होना चाहिए, वियुक्त इस जगत से और सब हम-तुम से। नही तो पूछ देखिये अपने भाई साहब से।"

नारायण ने कहा—"सुना, भाई साहब ?"

भाई साहब ने सुना। मानो कही से टूटकर वह वर्तमान मे उपस्थित हुए और बोले—"तुम्हारी भाभी जी को नारायण तुम पा नहीं सकोगे। बात तक मे यह अगम हो जाती है।"

नारायण को कुछ अच्छा मालूम हुआ। जैसे बात मे अब स्पदन पड रहा हो। अब तक जैसे वह दूर और वाच्य थी। अब वह घनिष्ठ और वास्तव हो। उसमे जिये जाते हुए जीवन का सन्दर्भ हो और वस्तु-स्थिति से दूर कटी निरी सैद्धान्तिक ही न हो। बल्कि दर्द की तरह कसकती और रक्त की तरह धमनी मे धडकती भी हो।

"मै अगम !" मनोरमा ने कहा, "अगम है तुम्हारा मोक्ष। नही तो बताओ वह क्या है ? छूटना चाहते हो, तो किससे ? मुक्ति क्या और कहा और क्यो ? तुम लोग जीवन भर ससार रचते हो। कमाने के लिए लडते हो, लडने के लिए कमाते हो—और किताबो मे लिखते हो कि जीवन का आदर्श मुक्ति है। मतलब कि सृष्टि के सब पदार्थो से और हम सब जीवो से खेल खाल कर भर जाओ तो कहो यह सब माया है, सब प्रपच था, और असल मे जीवन की यात्रा सच मे जिस तीर्थ के हेतु मे थी, वह तो मोक्ष है। राह के पडावो पर कुछ हम टिके रह भी गये तो यह तो विश्राम था केवल अगली यात्रा के लिए सक्षम होने के अर्थ। नही तो ससार बाधा है और विघ्न है।"

शाडिल्य ने सुनते सुनते भवो मे बल डाला और पूछा—"तुम क्या चाहती हो ?"

मनोरमा सचेत हुई। बोली—"क्या मतलब ?"

"मैंने तुम्हे क्या कह नही दिया है कि तुम स्वतन्त्र हो !"

"कह दिया है, लेकिन क्या मैं भी नही कह चुकी हू ? एक बार नही, दस बार कि मैं स्वतन्त्र हो नहीं सकती हू, सोच नही सकती हू। उस

शब्द का ही मेरे लिए कुछ अर्थ नहीं है। तुम्हारे नजदीक अर्थ हो तो मेरी चिन्ता तुम्हारा काम नहीं है, न किसी दूसरी चिन्ता को तुम्हे ओढना चाहिए। वह सब मैं समेट लूगी। तुम मन को रोको मत, जिधर अभीष्ट हो, बढ जाग्रो।"

"सुनते हो नारायण ?" शाडिल्य ने कहा। "तुम्हारी भाभी क्या कह रही है ? कह रही है, मैं सन्यासी हो जाऊं।"

"हा, नारायण, मैं इनसे कह रही हू कि तुम कभी कभी विकल और व्याकुल क्यो दिखाई दे आते हो ? जैसे खाली हो और सब वृथा हो, हम लोग जग-जात के अग हो। तुम्हे आवश्यकता परमेश्वर की मालूम होती है। छूटना चाहते हो तुम जग से और पाना चाहते हो परमात्मा को। छूटना चाहते हो इस सब से और पाना जिसे चाहते हो उसे बस मुक्ति यानी पूरी तरह छूटने का ही नाम देते हो। तो कहती हू, अटको मत। हम सब पर एक क्षण के लिए मत रुको। नहीं कहती सन्यास, पर मुक्ति का जो भी बाना होता हो तय कर लो। शास्त्रो मे उस बाने को ही सन्यास का नाम दिया है। कपडे भगवे हो जाते है, और घर घर नहीं रहना। ठीक है, वह सही। लेकिन, नारायण, मैं इन्हे अगर अकेला और आकुल नहीं देख सकती तो कहती हू कि मैं बेबस हू। अपनी इस बेकली पर नाराज भी नहीं हू। मुझे वह प्रिय है। मेरा वह स्वधर्म है। हो मुक्ति तो हो, स्त्री होकर मुझे उसे छूना भी नहीं है। जब तक यह घर मे हैं, मैं इन्हे अपने राग अनुराग के सूतो की लपेट मे मुक्त नहीं कर सकती हू। यह—यही कहते रहते हैं कि मेरी चिन्ता मत करो। लेकिन निश्चिन्त रहना हम स्त्रियो को मिला नहीं है। इसलिए मेरा राग, मेरी चिन्ता ही इनके लिए बोझ बन गई हो तो अब तुम्हारे सामने कह रही हू, कि यह आजाद हैं।...तुम्हे मालूम है, नारायण ? इन्होने सब जगह से अपना नाम हटा लिया है, मेरा डाल दिया है। वकालत छोड दी है, कविता करने लगे है। भक्ति की और रहस्य की कविता। अच्छी तो बात है। लेकिन भक्ति और रहस्य की

शब्द का ही मेरे लिए कुछ अर्थ नही है। तुम्हारे नजदीक अर्थ हो तो मेरी चिन्ता तुम्हारा काम नहीं है, न किसी दूसरी चिन्ता को तुम्हे ओढ़ना चाहिए। वह सब मैं समेट लूगी। तुम मन को रोको मत, जिधर अभीष्ट हो, बढ जाओ।"

"सुनते हो नारायण ?" शाण्डिल्य ने कहा। "तुम्हारी भाभी क्या कह रही है ? कह रही है, मैं सन्यासी हो जाऊ।"

"हा, नारायण, मैं इनसे कह रही हू कि तुम कभी कभी विकल और व्याकुल क्यो दिखाई दे आते हो ? जैसे खाली हो और सब वृथा हो, हम लोग जग-जाल के अग हो। तुम्हे आवश्यकता परमेश्वर की मालूम होती है। छूटना चाहते हो तुम जग मे और पाना चाहते हो परमात्मा को। छूटना चाहते हो इस सब से और पाना जिसे चाहते हो उसे बस मुक्ति यानी पूरी तरह छूटने का ही नाम देते हो। तो कहती हू, अटको मत। हम सब पर एक क्षण के लिए मत रुको। नही कहती सन्यास, पर मुक्ति का जो भी बाना होता हो तय कर लो। शास्त्रो मे उस बाने को ही सन्यास का नाम दिया है। कपडे भगवे हो जाते है, और घर घर नही रहता। ठीक है, वह सही। लेकिन, नारायण, मै इन्हे अगर अकेला और आकुल नही देख सकती तो कहती हू कि मैं बेबस हू। अपनी इस बेकली पर नाराज भी नही हू। मुझे वह प्रिय है। मेरा वह स्वधर्म है। हो मुक्ति तो हो, स्त्री होकर मुझे उसे छूना भी नहीं है। जब तक यह घर मे है, मैं इन्हे अपने राग अनुराग के सूत्रो की लपेट से मुक्त नही कर सकती हू। यह—यही कहते रहते है कि मेरी चिन्ता मत करो। लेकिन निश्चिन्त रहना हम स्त्रियो को मिला नही है। इसलिए मेरा राग, मेरी चिन्ता ही इनके लिए बोझ बन गई हो तो अब तुम्हारे सामने कह रही हू, कि यह आजाद है।" तुम्हे मालूम है, नारायण ? इन्होने सब जगह से अपना नाम हटा लिया है, मेरा डाल दिया है। अदालत छोड दी है, कविता करने लगे है। भक्ति की और रहस्य की कविता। अच्छी तो बात है। लेकिन भक्ति और रहस्य की

कर दो और उनसे भी ऊंची चोटी पर चढ़कर दिखा दो, अपने को और दुनिया को, कि तुम कम नहीं हो। त्याग के सहारे अपने को अधिक मानने की आवश्यकता तुम्हारे लिए अगर होती है तो इसीलिए कि मन में कहीं तुम्हारे भीतर है कि दूसरे लोग तुम्हारे बड़प्पन को अन्यथा मानते नहीं हैं।"

"छोडो मन्नो!" एकाएक शांडिल्य ने कहा। "तुम नहीं समझोगी। नारायण, शायद तुम भी नहीं समझोगे। इस संसार में मालूम होता है कोई नहीं समझेगा। हम क्यों एक दूसरे को समझ नहीं पाते हैं? क्यों अपने-अपने पिंजरे में हैं कि चाहे एक दूसरे से बात कर लें और भी तरह-तरह के सम्बन्ध पैदा कर लें, लेकिन पिंजरे के भीतर सिर्फ और खुद ही बने रहें? नारायण, यह पत्नी है। चालीस वर्षों से हम साथ हैं। हमारे प्यार की कथाएं बनी हैं, और सचमुच उसमें उन्नत प्रेम का भोग किसी ने पाया नहीं होगा। तुम मित्र हो और जानता हूं, मेरे लिए क्या कुछ तुम भुगत नहीं सकते हो। लेकिन यह क्यों है कि मैं अकेला हूं और मनोरमा तक मुझे गलत समझ सकती है।"

नारायण का अन्तरंग असमंजस मानो बढ़ता गया। उसने हंसकर कहा, "भाभी मनोरमा जी, भाई साहब को आप क्यों गलत समझती हैं? कविता करते हैं तो करने दीजिये। वकालत नहीं करते, मत करने दीजिए। भाई साहब, आइए आप ही छोड़िए। कहां तो हम लोग मुनाफा ले बैठे। लेकिन मैं जाऊंगा। जाने से पहले वचन दीजिए कि मुक्ति सम्बन्ध को आप लोग मुक्त ही रखेंगे और अपनी बातों में उसको, या आपस में किसी को, घेरना बांधना नहीं चाहेंगे। कहिए भाई साहब, कहिए भाभी जी? मुझे अब इजाजत दें।"

नारायण उपस्थिति में चला गया तो मानो उनके बीच से वह सेतु टूट गया जो दोनों के तटों को तो भी किसी तरह मिलाये हुए था। पति और पत्नी पास थे, लेकिन दोनों की निगाहों में इस समय मानो परिचय जितनी भी अभिज्ञता नहीं रह गई थी। जैसे अजनबी हों और सम्बोधन

का भी वास्ता एक दूसरे के बीच न हो। दो-एक क्षण कोई कुछ नही बोला। शाडिल्य खडे थे, मनोरमा बैठी थी। दोनो ने एक-दूसरे को देखा और देखकर अनदेखे हो गए। कुछ करने के लिए शाडिल्य के हाथो ने मेज पर से ट्रे को और गिलासो को उठाया और बराबर मे कोर्निस पर रख दिया। जैसे कुछ करें तभी अपना होना सहा जा सकता है। लौटकर उन्होने मेजपोश के कोने को ठीक किया। जरा इधर-उधर अपेक्षा की निगाह से देखा और फिर सोफा के पीछे अलमारी के सामने जाकर वहा से किताब निकाली और बैठकर पढने लगे।

मनोरमा अपनी जगह पर ज्यो की-त्यो बैठी रह गई। गिलास उठाने, मेजपोश ठीक करने और फिर जाकर अलमारी मे से किताब खींचते और बैठकर पढने लग जाने की पति की सारी विधि को मनोरमा बिना देखे देखती रह गई। जानती थी, कुछ नही है, केवल क्रिया है। उसमे आत्मता नही है, केवल व्यर्थता है। व्यस्तता बस बचाव है। किताब कोरी क्रियमाणता प्रतीक है कि जिसकी ओट वह मुझसे बचे और अपने को झेले। मनोरमा का मन इस अनुभूति पर भीतर-भीतर ऐंठ-सा आया। लेकिन वह अपनी जगह से हिली न डुली। मानो दुर्लंघ्य व्यवधान बीच मे हो और दोनो ओर निरुपायता हो।

शाडिल्य दूर उस कोने मे पढते रहे। मनोरमा अलग इस तरफ बैठी रही। शाडिल्य की आयु तिरसठ वर्ष है। मनोरमा अठावन है। चालीस वर्ष के लगभग दोनो साथ रहे हैं। पर शाडिल्य पढ पर पढ रहे हैं, मनोरमा बैठी की बैठी है। समय सरक रहा है—और मालूम होता है, बीच मे निपट अन्तराल है, सम्बद्धता के सूत्र वहा से लुप्त हो गए हैं। शुद्ध आकाश रह गया है, अथवा काल। अन्यथा दो निजताओ और अहताओ मे नितातता है और बीच मे मात्र शून्य। जैसे सागरो मे अलग हुए दो द्वीप हो कि मध्य मे नितान्त घोर अपरिचय और अनभिज्ञता ही सम्भव हो।

किताब सामने है और अनुभव होता है कि दुनिया है और नही है।

क्या है सब ? है, और व्यर्थ है। पढ़ रहे हैं और शब्द और वाक्य भी पढ़े जा रहे हैं, पर कुछ नहीं है और सब थोथा है। बेकार और व्यर्थ है। जीना बोझ है। खाक करना है जीकर। सब जी का जंजाल है, नहीं तो।

और मनोरमा बैठी है। सहती हुई विमनस्कता एक विधा कि जिसको टालने का या निबटाने का उपाय नहीं है।

एक दो पांच दस मिनट हो गए। नहीं सहा नहीं जाता है। था अब तक कि होने दो जो हो मैं क्या करूं ? लेकिन वह सब था, अब नहीं चल रहा है। नहीं, कुछ करना होगा। अपने में घिरकर बैठना नहीं हो पाएगा, नहीं हो पायेगा। मनोरमा अपनी जगह से उठी। अट्ठावन वर्ष की मनोरमा।

चलते-चलते सोफे कुर्सी की पीठ के पीछे वह पहुंच गई। लेकिन पति पढ़ रहे हैं। उन्हें नहीं मालूम। उसने कन्धों पर हाथ रखा। उन्हें नहीं मालूम। कन्धों को दबाया। उन्हें नहीं मालूम।

जोर से दबाया। नहीं मालूम।

"सुनो!"

"क्या है ? मुझे पढ़ने दो।"

पत्नी ने झुककर किताब उनके हाथों से छीनी और वहीं से जोर से मेज पर फेंक दी। और हठात् कहा "पढ़ो न!"

"यह क्या बदतमीजी है!"

"अच्छा अच्छा, उठो।"

"किताब लाओ पहले मेरी उठा के।"

"किताब ही पढ़ोगे ?"

"नहीं तो पढ़ूं तुम्हारा सिर ?"

"सिर क्यों, और कुछ नहीं है ? आओ देखो।"

"हटो तुम, हट जाओ यहां से।"

मनोरमा सामने आ गई थी। उसने उठाकर पति का हाथ ऊपर

लिया । पतिने झिटक दिया ।

वह और निकट आ गई। बोली, "सुनते हो, मैं भारी बहुत हो गई हूं । तुम्हें तकलीफ न हो ।"

"बको मत ।"

"देखो, कह रही हूं । फिर जो बुरा मानो ।"

"क्या हुआ है तुम्हे । शर्म करो जरा ।"

"तो लो ।"

मनोरमा बैठे हुए पति की जानु पर धब्ब से आ बैठी और चिबुक मे हाथ देकर पति के चेहरे को ऊपर उठाया और चूम लिया ।

पति ने कहना चाहा कि कुछ तो शऊर सीखो । पर उसका समय न था और मालूम हुआ कि अब उसके लिए कही कुछ नही रह गया है । न कविता, न सभ्यता, न मुक्तता ।

स्वयं जो मिट गया है तो क्या इसी मे सब मिल गया है ।

जुलाई '६५